आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य

सम्पादक

केशवचन्द्र वर्मा

●

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य

*

सम्पादक
केशवचन्द्र वर्मा

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

यह संकलन

आदरणीय नानाजी
(यानी 'बच्चन' जी)
को,

आदरणीय मामाजी
(यानी मामा वरेरकर)
को,

सहज बन्धु
(यानी विश्वम्भर 'मानव')
को

सौंपना चाहता हूँ।
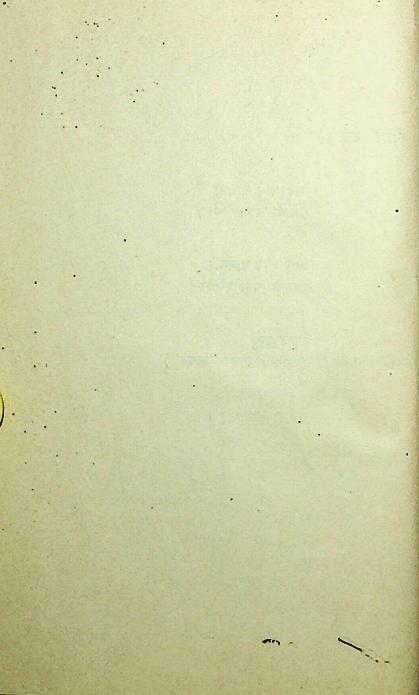
एक पक्षधर वक्तव्य

इस युग में लेखक होना ही पूर्वजन्म के कुकर्मों का फल है और फिर उसमें हास्य-व्यंग्य का लेखक होना तो पूर्वजन्म के कुकर्मों के साथ निकृष्ट योनि का भी स्पष्ट संकेत देता है। इस देश की विशिष्ट परम्परा यह रही है कि जो भी बात कहनी हो उसे दाढ़ी लगाकर, मुँह लटकाकर, इस सजधज के साथ कहा जाये कि श्रोता डर के मारे ही सब-कुछ सुन ले। जिन लेखकों ने अपना कथ्य प्रस्तुत करने के लिए हास्य या व्यंग्य का माध्यम चुना उन्हें स्पष्ट ही अपनी इस रुचि का (यानी 'मेक-अप' करके न उतारने का) पूरा मूल्य चुकाना पड़ा। अपने पाठकों में हास्य-व्यंग्य का लेखक भले ही सर्वप्रिय रहा हो लेकिन साहित्य के क्षेत्र में उसे केवल ऐसा हलका माध्यम अपनाने के कारण सदा सौतेले की तरह 'ट्रीट' किया गया है। एक तो ईमानदार-आलोचक यूँ ही सहारा का नखलिस्तान बन गया है पर जो है भी वह सदा से 'दाढ़ीदार चेहरों' का ही वक्तव्य सुनने का आदी रहा है। उसने कभी यह परखने की आवश्यकता नहीं समझी कि आज का हास्य-व्यंग्य एक मनोरंजनात्मक शैली मात्र बनकर रह गया है अथवा उसके माध्यम से जीवन के किसी विशिष्ट सन्दर्भ को

पकड़ने का यत्न किया जा रहा है। मानव व्यापार के व्यापक सन्दर्भ में, जहाँ 'कथनी' और 'करनी' का भेद सहज ही व्यंग्य को जन्म देता रहता है, इस माध्यम की जितनी नयी सम्भावनाएँ विकसित हुई हैं, उसका आकलन साहित्यिक धर्म के अन्तर्गत अभी तक नहीं आ सका है। जिसने इस सम्बन्ध में कुछ भी लिखा है वह एहसान जताते हुए लिखा है तथा हास्य-लेखकों से 'आजन्म-ऋणी' का पट्टा लिखवाने का परोक्ष संकेत भी किया है। कुछ 'आचार्यों' ने इस सम्बन्ध में अपने विचार देते हुए इन लेखकों के मन में एक हीन-भावना को जन्म देने की भी चेष्टा की है। हास्य-व्यंग्य के लेखकों के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण अपने देश तक ही सीमित नहीं था। अन्य यूरोपीय देशों में भी लगभग इसी प्रकार की समानान्तर स्थितियाँ रही हैं किन्तु वहाँ की जटिल विषमताओं ने 'दाढ़ीदार-चेहरों' के बहुप्रचारित-भ्रम का शीघ्र ही निराकरण कर दिया। हास्य-व्यंग्य की उत्कृष्टतम रचनाओं के अनेकानेक ख्यातिप्राप्त संकलन इस बात के प्रमाण हैं कि वे जीवन की कुरूपताओं को पहचान रहे हैं और उन्हें हँसकर सँवारने के लिए कृतसंकल्प हैं।

'हास्य' के साथ एक कठिनाई रही है। दार्शनिकों से लेकर चिकित्सकों तक ने इस विषय पर अपने मत प्रकट किये हैं और कुल मिलाकर केवल एक महान् 'उलझाव' (कन्फ़्यूज़न) पैदा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सके हैं! अरस्तू, बर्गसाँ, फ़ायड, लूकास—जिसे देखिए उसे ही हास्य के बारे में कुछ न कुछ कहना है। इस सम्बन्ध में मानव के शरीर-विज्ञान से लेकर उसके मस्तिष्क-विज्ञान की समस्त 'शल्य-क्रियाएँ' हो चुकी हैं, किन्तु जहाँ पर हास्य (या व्यंग्य भी) मानवीय जीवन के जटिल जीवन-सन्दर्भ को नया अर्थबोध देता है, उस प्रक्रिया को साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का यत्न विशेष नहीं हो पाया। हास्य हमारे संस्कृत व्यक्तित्व की सहजता, ऋजुता एवं पवित्रता का द्योतक रहा है जो समस्त कल्मष को अपनी 'सुरसरिधारा' में नहलाता हुआ, 'सब कहँ हित' करता

हुआ प्रवहमान होता रहता है। विषमताओं, अपूर्णताओं, दुर्बलताओं और अनकही किन्तु स्वीकृत रूढ़ि-परम्पराओं के विरुद्ध अपने समस्त आक्रोश को जो मुसकानों की सीमाओं से बाँधकर नयी मानवता के स्वागत के लिए चेतना जाग्रत् करते हैं, उन्होंने ही हास्य के शुभ्रतम रूप को पहचाना है। अतः हास्य का शुद्ध रूप जानने के लिए उन्हें पढ़ना ही श्रेयस्कर होगा। 'हास्य' और 'व्यंग्य' का शास्त्रीय विवेचन करना न तो यहाँ अभीष्ट ही है और न उसकी आवश्यकता ही।

यह संकलन हिन्दी हास्य-व्यंग्य का प्रतिनिधि संकलन होने का दावा नहीं कर सकता। पहले तो इसमें बहुत-से ऐसे हास्य-लेखकों की रचनाएँ छूट गयी हैं जो हो सकता है कि हिन्दी के ऐतिहासिक हास्य-लेखक हों किन्तु जिनकी रचनाएँ न मुझे 'हास्य' के नाम पर आकृष्ट कर सकी हैं और न 'आधुनिकता' के नाम पर ही। दूसरे, इसमें ऐसे बहुत-से लेखक हैं जिनके नाम 'हास्य-व्यंग्य लेखकों की स्वीकृत सूची' में हैं ही नहीं। 'वर्गभेद' के नाम पर उन्हें 'सीरियस-रस' का लेखक माना जाता रहा है। इन लेखकों ने वस्तुतः जहाँ इस माध्यम को पकड़ा है वहाँ उसकी नयी शक्ति विकसित हुई-सी लगती है। अतः मैंने इस संकलन में उन्हें रखना चाहा है। तीसरे ऐसे भी हैं जिनकी कुछ चीजें प्रकाश में आयी थीं किन्तु किन्हीं कारणों से जनमते ही वे विस्मृति के गर्भ में समा गयीं। उन्हें फिर से सामने लाने का मेरा आग्रह स्पष्ट है। संकलित सभी रचनाओं में वे तत्त्व सहज ही मिल सकेंगे जो आज की 'आधुनिकता' की उपलब्धि हैं। इसीलिए 'आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य' में उनके संकलन की सार्थकता है। किन्तु फिर भी यह संग्रह प्रतिनिधित्व का दावा नहीं करता। यदि करता भी है तो केवल मेरी 'संकीर्ण-अभिरुचि' का!

सात-आठ वर्ष पूर्व संकलन करने का काम प्रारम्भ किया था केवल 'आनन्द' के लिए। विदेशी संकलनों को देखकर मोह हुआ कि हिन्दी में

भी इस प्रकार का एक संग्रह हो ! अच्छा तो वह होता कि यह काम किसी दूसरे 'भलेमानुस' ने किया होता कि मैं यहाँ तो अपनी 'पक्षधरता' से मुक्ति पा जाता। पर इस युग में जहाँ सबके पास केवल अपनी ही 'ढपलियाँ' हैं जिन पर केवल उन्हीं का राग अलापा जा सकता है वहाँ अपनी 'ढपली' को भी 'ढपली' की संज्ञा दिलाने के लिए यदि शोर मचाना ही पड़े तो मेरा गला सबके आगे रहेगा। मैं उन समस्त लेखकों का बहुत आभारी हूँ जिन्होंने इस 'संकलन में अपनी रचनाएँ देकर एक टोन' बनाने में मेरी सहायता की है !

—केशवचन्द्र वर्मा

१ जनवरी १९६१
प्रयाग

अनुक्रम

□

आधुनिक
हिन्दी हास्य-व्यंग्य

□

बालमुकुन्द गुप्त

माई लॉर्ड

□

माई लॉर्ड ! लड़कपन में इस बूढ़े भंगड़ को बुलबुल का बड़ा चाव था। गाँव में कितने ही शौक़ीन बुलबुलबाज़ थे। वह बुलबुलें पकड़ते थे, पालते थे और लड़ाते थे। बालक शिवशम्भु शर्मा बुलबुलें लड़ाने का चाव नहीं रखता था। केवल एक बुलबुल को हाथ पर बिठाकर ही प्रसन्न होना चाहता था। पर ब्राह्मण कुमार को बुलबुल कैसे मिले ? पिता को यह भय था कि बालक को बुलबुल दी तो वह मार देगा, हत्या होगी। अथवा उसके हाथ से बिल्लो छीन लेगी तो पाप होगा। बहुत अनुरोध से यदि पिता ने किसी मित्र की बुलबुल किसी दिन ला भी दी तो वह एक घण्टे से अधिक नहीं रहने पाती थी। वह भी पिता की निगरानी में !

सराय के भटियारे बुलबुलें पकड़ा करते थे। गाँव के लड़के उनसे दो-दो तीन-तीन पैसे में खरीद लाते थे। पर बालक शिवशम्भु तो ऐसा नहीं कर सकता था। पिता की आज्ञा बिना वह बुलबुल कैसे लावे और कहाँ रखे ? उधर मन में अपार इच्छा थी कि बुलबुल ज़रूर हाथ पर हो। इसी से उड़ती बुलबुल को देखकर जी फड़क उठता था। बुलबुल की बोली सुनकर आनन्द से हृदय नृत्य करने लगता था। कैसी-कैसी कल्पनाएँ हृदय में उठती थीं। उन सब बातों का अनुभव दूसरों को क्या होगा, आज यह वही शिवशम्भु है, स्वयं इसी को उस बालकाल के अनिर्वचनीय चाव और आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता।

बुलबुल पकड़ने की नाना प्रकार की कल्पनाएँ मन ही मन में करता हुआ बालक शिवशम्भु सो गया। उसने देखा कि संसार बुलबुलमय है। सारे गाँव में बुलबुलें उड़ रही हैं। अपने घर के सामने खेलने का जो

मैदान है, उसमें सैकड़ों बुलबुलें उड़ती फिरती हैं। फिर वह सब ऊँची नहीं उड़ती हैं। उनके बैठने के अड्डे भी नीचे-नीचे हैं। वह कभी उड़कर इधर जाती हैं और कभी उधर, कभी यहाँ बैठती हैं और कभी वहाँ, कभी स्वयं उड़कर बालक शिवशम्भु के हाथ की उँगलियों पर आ बैठती हैं। शिवशम्भु आनन्द में मस्त होकर इधर-उधर दौड़ रहा है। उसके दो-तीन साथी भी उसी प्रकार बुलबुलें पकड़ते और छोड़ते इधर-उधर कूदते फिरते हैं।

आज शिवशम्भु की मनोवांछा पूर्ण हुई। आज उसे बुलबुलों की कमी नहीं है। आज उसके खेलने का मैदान बुलबुलिस्तान बन रहा है। आज शिवशम्भु बुलबुलों का राजा ही नहीं, महाराजा है। आनन्द का सिलसिला यहीं नहीं टूट गया। शिवशम्भु ने देखा कि सामने एक सुन्दर बाग़ है। वहीं से सब बुलबुलें उड़कर आती हैं। बालक कूदता हुआ दौड़कर उसमें पहुँचा। देखा, सोने के पेड़-पत्ते और सोने ही के नाना रंग के फूल हैं। उनपर सोने की बुलबुलें बैठी गाती हैं। और उड़ती-फिरती हैं। वहीं एक सोने का महल है। उसपर सैकड़ों सुनहरी कलश हैं। उनपर भी बुलबुलें बैठी हैं। बालक दो-तीन साथियों सहित महल पर चढ़ गया। उस समय वह सोने का बग़ीचा सोने का महल और बुलबुलों सहित एक बार उड़ा। सब कुछ आनन्द से उड़ता था। बालक शिवशम्भु भी दूसरे बालकों सहित उड़ रहा था। पर यह आमोद बहुत देर तक सुखदायी न हुआ। बुलबुलों का खयाल अब बालक के मस्तिष्क से हटने लगा। उसने सोचा—हैं! मैं कहाँ उड़ा जाता हूँ? माता-पिता कहाँ? मेरा घर कहाँ? इस विचार के आते ही सुख-स्वप्न भंग हुआ। बालक कुलबुलाकर उठ बैठा। देखा और कुछ नहीं, अपना ही घर और अपनी ही चारपाई है। मनोराज्य समाप्त हो गया!

आपने माई लॉर्ड! जब से भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने के योग्य काम भी किया है? खाली अपना खयाल ही पूरा किया है या यहाँ की प्रजा के लिए भी कुछ कर्तव्य

पालन किया ? एक वार यह बातें बड़ी धीरता से मन में विचारिए। आपकी भारत में स्थिति की अवधि के पाँच वर्ष पूरे हो गये। अब यदि आप कुछ दिन रहेंगे तो सूद में, मूलधन समाप्त हो चुका। हिसाब कीजिए, नुमायशी कामों के सिवा काम की बात आप कौन-सी कर चले हैं और भड़कबाज़ी के सिवा ड्यूटी और कर्तव्य की ओर आपका इस देश में आकर कब ध्यान रहा है ? इस बार के बजट की वक्तृता ही आपके कर्तव्य की अन्तिम वक्तृता थी : ज़रा उसे पढ़ तो जाइए। फिर उसमें आपकी पाँच साल की किस अच्छी करतूत का वर्णन है ? आप बारम्बार अपने दो अति तुमतराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया-मिमोरियल हॉल और दूसरा दिल्ली-दरबार। पर ज़रा विचारिए तो यह दोनों काम 'शो' हुए या 'ड्यूटी' ? विक्टोरिया-मिमोरियल हॉल चन्द पेट-भरे अमीरों के एक-दो बार देख आने की चीज़ होगी। उससे दरिद्रों का कुछ दुःख घट जायेगा या भारतीय प्रजा की कुछ दशा उन्नत हो जायेगी, ऐसा तो आप भी न समझते होंगे।

अब दरबार की बात सुनिए कि क्या था। पापके खयाल से वह बहुत बड़ी चीज़ थी। पर भारतवासियों की दृष्टि में वह बुलबुलों के स्वप्न से बढ़कर कुछ न था। जहाँ-जहाँ से वह जुलूस के हाथी आये, वहीं-वहीं सब लौट गये। जिस हाथी पर आप सुनहरी झूलें और सोने का हौदा लगवाकर छत्र-धारणपूर्वक सवार हुए थे, वह अपने क़ीमती असबाब सहित जिसका था, उसके पास चला गया। आप भी जानते थे कि वह आपका नहीं और दर्शक भी जानते थे कि आपका नहीं। दरबार में जिस सुनहरी सिंहासन पर विराजमान होकर आपने भारत के सब राजा-महाराजाओं की सलामी ली थी, वह भी वहीं तक था और आप स्वयं भली-भाँति जानते हैं कि वह आपका न था। वह भी जहाँ से आया था, वहीं चला गया। यह सब चीज़ें खाली नुमायशी थीं। भारतवर्ष में वह पहले ही से मौजूद थीं। क्या इन सबसे आपका कुछ गुण प्रकट हुआ ? लोग विक्रम को याद करते हैं या उसके सिंहासन को, अकबर को या उसके तख्त को ? शाहजहाँ की

इज़्ज़त उसके गुणों से थी या तख़्तेताऊस से ? आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष के लिए यह सब बातें विचारने की हैं।

चीज़ वह बननी चाहिए, जिसका कुछ देर क़याम हो। माता-पिता की याद आते ही बालक शिवशम्भु का सुख-स्वप्न भंग हो गया। दरबार समाप्त होते ही वह दरबार-भवन, वह एम्पीथियेटर तोड़कर रख देने की वस्तु हो गया। उधर बनाना, इधर उखाड़ना पड़ा। नुमायशी चीज़ों का यही परिणाम है। उसका तितलियों का-सा जीवन होता है। माई लॉर्ड ! आपने कछाड़ के चायवाले साहबों की दावत खाकर कहा था कि यह लोग यहा नित्य हैं और हम लोग कुछ दिन के लिए। आपके वह 'कुछ दिन' बीत गये। अवधि पूरी हो गयी। अब यदि कुछ दिन और मिलें, तो वह किसी पुराने पुण्य के बल से समझिए। उन्हीं की आशा पर शिवशम्भु शर्मा यह चिट्ठा आपके नाम भेज रहा है, जिससे इन माँगे दिनों में तो एक बार आपको अपने कर्तव्य का खयाल हो।

जिस पद पर आप आरूढ़ हुए, वह आपका मौरूसी नहीं। नदी-नाव संयोग की भाँति है। आगे भी कुछ आशा नहीं कि इस बार छोड़ने के बाद आपका इससे कुछ सम्बन्ध रहे। किन्तु जितने दिन आपके हाथ में शक्ति है, उतने दिन कुछ करने की शक्ति भी है। जो आपने दिल्ली आदि में कर दिखाया, उसमें आपका कुछ भी न था, पर वह सब कर दिखाने की शक्ति आपमें थी। उसी प्रकार जाने से पहले, इस देश के लिए कोई असली काम कर जाने की शक्ति आप में है। इस देश की प्रजा के हृदय में कोई स्मृति-मन्दिर बना जाने की शक्ति आपमें है। पर यह सब तब हो सकता है कि वैसी स्मृति की कुछ क़दर आपके हृदय में भी हो। स्मरण रहे, धातु की मूर्तियों के स्मृति-चिह्न से एक दिन क़िले का मैदान भर जायेगा। महारानी का स्मृति-मन्दिर मैदान की हवा रोकता था या न रोकता था, पर दूसरों की मूर्तियाँ इतनी हो जायेंगी कि पचास-पचास हाथ पर हवा को टकराकर चलना पड़ेगा। जिस देश में लॉर्ड लैंसडौन की मूर्ति बन सकती है, उसमें और किस-किसकी मूर्ति नहीं बन सकती ? माई

लॉर्ड ! क्या आप भी चाहते हैं कि उसके आस-पास आपकी भी एक वैसी ही मूर्ति खड़ी हो ?

यह मूर्तियाँ किस प्रकार से स्मृति-चिह्न हैं ? इस दरिद्र देश के बहुत-से धनों की एक ढेरी है, जो किसी काम नहीं आ सकती। एक बार जाकर देखने से ही विदित होता है कि वह कुछ विशेष-पक्षियों के कुछ देर विश्राम लेने के अड्डे से बढ़कर कुछ नहीं है। माई लॉर्ड ! आपकी मूर्ति की वहाँ क्या शोभा होगी ? आइए, मूर्तियाँ दिखावें। वह देखिए, एक मूर्ति है, जो क़िले के मैदान में नहीं है, पर भारतवासियों के हृदय में बनी हुई है। पहचानिए, इस वीर पुरुष ने मैदान की मूर्ति से इस देश के करोड़ों ग़रीबों के हृदय में मूर्ति बनवाना अच्छा समझा। वह लॉर्ड रिपन की मूर्ति है और देखिए, एक स्मृति-मन्दिर यह आपके पचास लाख के संगमरमरवाले से अधिक मज़बूत और सैकड़ों गुना क़ीमती है। यह स्वर्गीया विक्टोरिया महारानी का सन् १८५८ ई. का घोषणा-पत्र है। आपकी यादगार भी यही बन सकती है, यदि इन दो यादगारों की आपके जी में कुछ इज्ज़त हो।

मतलब समाप्त हो गया। जो लिखना था, वह लिखा गया। अब खुलासा बात यह है कि एक बार शो और ड्यूटी का मुक़ाबला कीजिए। शो को शो ही समझिए। शो ड्यूटी नहीं है। माई लॉर्ड ! आपके दिल्ली-दरबार की याद कुछ दिन बाद उतनी ही रह जायेगी, जितनी शिवशम्भु शर्मा के बालकपन के उस सुख-स्वप्न की है !

□ □

बालकृष्ण भट्ट

वकील

□

यह जानवर ब्रिटिश राज्य के साथ ही साथ हिन्दुस्तान में आया है। पुराने आर्यों के समय इनका कहीं पता भी नहीं लगता। मुसलमानों की सल्तनत में वकील वही कहलाते थे जो छोटे राजा या रईसों की ओर से किसी चक्रवर्ती बड़े राजा के दरबार में रहा करते थे। पर किसी न्यायकर्ता के सामने वादी प्रतिवादी की ओर से अब के समान वादानुवाद से उस वकील को कोई सरोकार न था। वास्तव में अँगरेज़ी शासन ने इस पेशे को बड़ी उन्नति दी। सच पूछो तो यह एक परम स्वच्छन्द व्यवसाय है और बड़ी बुद्धि का काम है। कोई ऐसा विषय नहीं है जिसको कभी न कभी वकील को अच्छी तरह जान लेना नहीं पड़ता। कभी इसे राजकीय विषयों में घुसना पड़ता है कभी को वाणिज्य और तिज़ारत को ऐसा जानना पड़ता है जैसा किसी ने जन्म-भर वही काम किया हो। कभी ज़मींदारी का रस बिना अंगुल-भर ज़मीन अपने अधिकार में रखने के भी उसको चखना या अनुभव करना पड़ता है। इस पेशे की आमदनी का कुछ ठिकाना नहीं है, जिसकी दुकान चल गयी लक्ष्मी उसके सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। जिसकी न चली उसको रोज़ रोज़ा रखना पड़ता है, रोज़ी उसको दुर्लभ हो जाती है। जिसका काम चलता है नहीं भी चलता उसका वह हाल रहता है जैसा जुआरी का। दावँ पड़ता गया, नया गहनापाती खाना-कपड़ा सभी कुछ बढ़िया से बढ़िया तैयार हो गया। न पड़ा तो पेट में चूहे उछला किये। किसी को मुँह दिखाने में शरम होती है। बहुतों की समझ है कि इस काम में पुलिस की नाईं झूठ ज़रूर बोलना पड़ता है। पर यह किसी तरह सच नहीं है। हमने अच्छे-अच्छे तजरिबेकार वकीलों

से सुना है कि वकीलों को विजय नामवरी और प्रतिष्ठा सत्य ही से होती है। बहुत लोग कहते हैं इस पेशे में मेहनत नहीं करना पड़ता है, यह भी मिथ्या है। मन और मस्तिष्क दोनों को बड़ा परिश्रम पड़ता है। दूसरे का दुख अपना समझ उसको दूर करने के लिए भिड़ जाना पड़ता है। मसल है एक गड़रिये के ऊपर भेड़ चुराने का अभियोग लगाया गया। गड़रिये के वकील साहब ने जज के सामने बहस कर उसे छुड़ा लिया। गड़रिया और उसका मित्र दोनों घर लौटे आते थे। मित्र ने पूछा—भाई, सच बतलाओ तुमने भेड़ चुराया था या नहीं? उसने कहा—भाई, चुराया तो था पर जब से वकील साहब की बात सुनी तब से मन में सन्देह है कि हमने सचमुच चुराया था या नहीं।

वैद्यों ने निश्चय किया है, वीर्य के क्षय से भी वाणी का क्षय अधिक निर्बल करता है। सो वकालत के पेशे में कितना बकना पड़ता है इसकी कोई हद नहीं है, तब वकीलों के परिश्रम का क्या कहना? सच तो यों है कि जिन लोगों ने अदालत की सैर की है वे जान सकते हैं कि वकील कितनी मेहनत करते हैं और कितना मुअक्किल का उपकार अदालत में इनसे होता है। जब दो वकील तीतर-बटेर-से लड़ते हैं तब जो सुननेवाले होते हैं वे प्रायः दो तरह के होते हैं, या तो वादी से उनका सम्बन्ध रहता है या निरे तमाशबीन होते हैं जो केवल दिल-बहलाव और सैर के लिए अदालत गये थे। जो दो फ़रीक में किसी एक के सम्बन्धी होते हैं वह अपने वकील की तक़रीर सुन प्रसन्न हो जाते हैं। उसके प्रत्येक शब्द को वेदवाक्य मानते हैं और प्रतिवादी के वकील की तक़रीर बड़े क्रोध से सुनते हैं, यहाँ तक कि बस चले तो मार बैठें। जो सैर-सपाटे के लिए गये हैं वे अचम्भे में आ जाते हैं कि दोनों देखने में प्रतिष्ठित हैं पर सच्चा दो में कौन है। फ़ौजदारी हो चाहे दीवानी हो, अपने मुअक्किल की बात पुष्ट कर देना और सत्य को चमका देना वकील ही का काम है। इंग्लैण्ड में एक राजवधू ने राजकुमार पर अभियोग किया। राजवधू के वकील ने अपनी वक्तृता में कहा, हम लोगों का काम शुद्ध और पवित्र है, हमको

केवल अपने मुअक्किलों की बात सिद्ध करना है। यद्यपि मैं इस समय इस देश के राजकुमारपर अधिक्षेप कर रहा हूँ, इसका मुझे कुछ चित्त में संकोच नहीं है। जिसका मैं वकील हूँ उसके फ़ायदे पर मेरी दृष्टि है चाहे देश विरुद्ध हो जाये तो मैं उसे कुछ खयाल न करूँगा।

सच तो यों है देश के उद्धारक इस समय वे वकील ही देखे जाते हैं। बड़े-बड़े राजकीय विषयों के समझने और उसपर तर्क-वितर्क, ऊहापोह करनेवाले यही तो देखे जाते हैं! वैसे ही इनका स्वच्छन्द व्यवसाय भी है कि औरों के समान ये गवर्नमेण्ट या कर्मचारियों के बाधित नहीं हो सकते। धैर्य, हिम्मत, साहस ये तीन बातें इस पेशे की जान हैं। अच्छा लायक़ वकील चलता-पुरजा वही होगा जिसमें ये तीनों बातें होंगी। गवर्नमेण्ट क़ानून हिन्दी की चिन्दी निकालते हुए मुल्क की तरक़्क़ी में मानो ज़हर-सा घोल रहा है, उसका 'ऐण्टीडोट' प्रतीकार ये वकील ही हैं। बड़े-बड़े शहरों की शोभा हैं। जो चलते बने तो औवल दरजे की प्रतिष्ठा का द्वार है। पर सोच होता है जब खयाल करो कि बन्दर के हाथ में मणि के समान कितने इस पेशे को ऐसा बिगाड़ रहे हैं कि वकील झूठ को सच, सच को झूठ कर देने के लिए बदनाम हो रहे हैं सो न किया जाये तो वकालत आदमी को अपनी इज़्ज़त बनाने के लिए बड़ा उमदा ज़रिया है। वह ज़माना गया जब वकीलों की तवायफ़ के साथ तुलना दी जाती थी। अब इस समय सभ्य सुशिक्षित जिन्होंने अँगरेज़ी की उमदा तालीम पांयी है उनकी अपने उत्तम गुणकौशल्य, संजीदगी, सचाई, ईमानदारी के प्रकट करने को यह काम एक मात्र सहारा है और अँगरेज़ी राज्य में बड़ी उत्तम जीविका है चलते बन पड़े तो। इत्यादि।

□ □

प्रतापनारायण मिश्र

दाँत

□

इस दो अक्षर के शब्द तथा इन थोड़ी-सी छोटी-छोटी हड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने यह कौशल दिखलाया है कि किसके मुँह में दांत हैं जो पूरा-पूरा वर्णन कर सके। मुख की सारी शोभा और यावत् भोज्य पदार्थों का स्वाद इन्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक (जुल्फ), भ्रू (भौं) तथा बरुनी आदि की छवि लिखने में बहुत-बहुत रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूछिए तो इन्हीं की शोभा से सबकी शोभा है। जब दाँतों के बिना पुपला-सा मुँह निकल आता है, और चिबुक (ठोड़ी) एवं नासिका एक में मिल जाती हैं उस समय सारी सुघराई मिट्टी में मिल जाती है।

कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है। वह बहुत ठीक है, वरंच यह अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं। यह वह अंग है जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्यशास्त्र के नवों रस का आधार है। खाने का मज़ा इन्हीं से है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ चाटनेके और रोटी को दूध में तथा दाल में भिगो के गले के नीचे उतार देने के दुनिया-भर की चीज़ों के लिए तरस ही के रह जाता होगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शन मात्र हमसे सुन लीजिए—

शृंगार का तो कहना ही क्या है। अहा हा! पान-रंग-रँगे अथवा यों ही चमकदार चटकीले दाँत जिस समय बातें करने तथा हँसने में दृष्टि आते हैं उस समय नयन और मन इतने प्रमुदित हो जाते हैं कि जिनका वर्णन गूँगे को मिठाई है। हास्य रस का तो पूर्ण रूप ही नहीं जमता जब-

तक हँसते-हँसते दाँत न निकल पड़ें। करुण और रौद्र रस में दुख तथा क्रोध के मारे दाँत अपने होठ चबाने के काम आते हैं एवं अपनी दीनता दिखा के दूसरे को करुणा उपजाने में दाँत दिखलाये जाते हैं। रिस में भी दाँत पीसे जाते हैं। सब प्रकार के वीर रस में भी सावधानी से शत्रु की सैन्य अथेवा दुखियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दाँत लगा रहता है। भयानक रस के लिए सिंह-व्याघ्रादि के दाँतों का ध्यान कर लीजिए, पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागेंगे। बीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी तिब्बती साधु के दाँत देख लीजिए, जिनकी छोटी-सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चिपक जाता है। अद्‌भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख-सुन के दाँत बाय मुँह फैलाय के हक्का-बक्का रह जाते हैं। शान्त रस के उत्पादनार्थ श्री शंकराचार्य स्वामी का यह महामन्त्र है—

"भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।"

सच है, जब किसी काम के न रहें तब पूछे कौन ?

"दाँत खियाने खुर घिसे, पीठ बोझ नहिं लेय।"

जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुए, मछली, स्थल के कौआ, कुत्ता आदि दाँत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत्‌चित्त में भगवान् का भजन न किया तो क्या किया ? आपकी हड्डियाँ हाथी के दाँत तो हुई नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आयेंगी। जीते जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है। देखिए, आपके दाँत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जबतक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दन्तावली) और अपने काम में दृढ़ हैं तभी तक हमारी अपनी प्रतिष्ठा है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कवि हमारी प्रशंसा करते हैं, बड़े-बड़े सुन्दर मुखारविन्दों पर हमारी मोहर 'छाप' रहती है। पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित और फेंकने योग्य हड्डी हो जाते हैं—"मुख में मानिक सम दशन बाहर निकसत हाड़" हम जानते हैं कि नित्य यह देख के भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख्य सजातीय हिन्दू-मुसलमानों

का साथ तन-मन-धन और प्रानपन से क्यों नहीं देते ? याद रखिए—
"स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ताः केशा नखा नराः ।"

हाँ, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिन्दुस्तान छोड़ के विलायत जाना स्थान-भ्रष्टता है तो यह आपकी भूल है। हँसने के समय मुँह से दाँतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता, वरंच एक प्रकार की शोभा होती है। ऐसे ही आप स्वदेश-चिन्ता के लिए कुछ काल देशान्तर में रह आयें तो आपकी बड़ाई है। पर हाँ, यदि वहाँ जा के यहाँ की ममता ही छोड़ दीजिए तो आपका जीवन उन दाँतों के समान है जो होठ या गाल कट जाने से अथवा किसी कारण-विशेष से मुँह के बाहर रह जाते हैं और सारी शोभा खो के भेड़िये-जैसे दाँत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होठ दाँतों का परदा है। जिसके परदा न रहा, अर्थात् स्वजातित्व की गैरतदारी न रही, उसकी निर्लज्ज ज़िन्दगी व्यर्थ है। कभी आपको दाढ़ की पीड़ा हुई होगी तो अवश्य यह जी चाहा होगा कि इसे उखड़वा डालें तो अच्छा है। ऐसे ही हम उस स्वार्थ के अन्धों के हक़ में मानते हैं जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देश-भाई, पर सदा हमारे देश-जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं। परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे। उनके होने का हमें कौन सुख ? हम तो उनकी जैजैकार मनायेंगे जो अपने देशवासियों से दाँत काटी रोटी का बरताव (सच्ची गहरी प्रीति) रखते हैं। परमात्मा करे कि हर हिन्दू-मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दाँतों पसीना आता रहे। हमसे बहुत कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रखा है—

"कायर कपूत कहाय, दाँत दिखाय भारत तम हरो"

कोई हमारे लेख देख दाँतों तले उँगली दबा के सूझ-बूझ की तारीफ़ करे, अथवा दाँत बाय के रह जाये, या अरसिकतावश यह कह दे कि कहाँ की दाँताकिलकिल लगायी है तो इन बातों की हमें परवाह नहीं है। हमारा दाँत जिस ओर लगा है, वह लगा रहेगा, औरों की दाँतकटाकट से हमको क्या ?

अतः हम इस दन्तकथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं। अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तीस दाँतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दाँतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों तथा यह भी ध्यान रखें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास-योग्य नहीं हैं। हाथी के दाँत खाने के और होते हैं दिखाने के और।

□ □

शिवपूजन सहाय

मैं हज्जाम हूँ

□

मैं हज्जाम हूँ। अच्छी हजामत बनाता हूँ। जी लगाकर बना दूँ तो केश पखवारे तक न पनपें—रोएँ भी न अंकुरें। मगर जी लगता नहीं जबतक मेरे छुरे को छप्पन छुरा कोई छैल-छबीला नहीं मिलता। मिल गया तो छुरा रसे-रसे चलने लगता है। अगर संयोग से कोई गण्डपाताली मिल गया तो छुरा छूटकर चल पड़ता है। इसलिए कपोलपाताली मेरे ढिग फटकते नहीं। मेरी उन्मादिनी उँगलियाँ जब गालों को गुदगुदाने लगती हैं तो रसज्ञोंको नींद आने लगती है।

नीतिशास्त्रानुसार शस्त्रधारी कभी विश्वसनीय नहीं होता, किन्तु मेरे शस्त्रसज्जित लोखर को देखकर भी बड़े-बड़े राजा-रईस और सेठ-साहूकार बड़ी आस्था के साथ मेरे छुरे के आगे गरदन झुका देते हैं। जो सारी दुनिया को उलटे छुरे से मूड़ते हैं उन्हें मैं सीधे छुरे से ही मूड़ डालता हूँ। मनमाने पैसे भी गिना लेता हूँ और मनमाना कर ठोठ भी मसल देता हूँ।

किसी सशस्त्र व्यक्ति के हाथ में कोई विश्वास-पूर्वक अपना सिर नहीं सौंपता, पर मेरे 'विश्वसनीयमायुध' के सामने सबके सब स्वतः आत्म-समर्पण कर देते हैं—मेरे स्पर्शसुखावह छुरे को अपना गला सौंपने में कोई कभी हिचकता नहीं, यहाँ तक कि मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई रंच-मात्र भी टस से मस नहीं होता।

जिस समय मनचाहा व्यक्ति मिल जाता है उस समय मेरी नृत्यशीला उँगलियाँ मन्थर गति से अपना लोच दिखाने लगती हैं। मेरी अंगुलि-अंगनाओं के अभिनय के लिए कमनीय कपोल ही रमणीय रंगमंच है।

मेरी भाव-भंगिमा-भरी कनक-शलाका-सी उँगलियों के लिए चित्तचोर चिबुक ही 'सुचिर चिर कसौटी' है।

किन्तु मैं कपोलानन्दी होकर भी सर्वथा निर्लिप्त और अनासक्त हूँ, इसलिए मैं प्रमदाओं का प्रतिद्वन्द्वी नहीं कहला सकता। हाँ, ठग और चोर के बीच का ठाकुर अवश्य हूँ, इसलिए ठसक के साथ कहता हूँ कि ठाकुर का भोग कभी जूठा नहीं कहलाता, प्रसाद कहा जाता है। न भौंरा फूल को जूठा करता है, न चींटी चीनी को। यदि सोच-समझकर देखिए तो मैं ललनागण की सुख-वृद्धि का साधक हूँ।

याद रहे मैं हाथरस का हज्जाम हूँ। मगर रहता हूँ बनारस में। ब्रजवसिया और बनरसिया होने के कारण ही तो रसिया हूँ। सचमुच मेरे हाथों में ही रस है। टटका-टटका टे दूँ तो टकटकी बँध जाये और टटोल-टटोल टीप दूँ तो बिरही की हराम नींद भी चुपके से चली आये।

मैंने जैसे स्पृहणीय श्वास सौरभों का रसास्वादन किया है वैसे तो बहुतों को नसीब न होंगे। जिन मानिनी मूँछों तक बड़े-बड़ों के हाथ नहीं पहुँच सकते उनको कुकुर पूँछ बनाने के लिए मेरे हाथ बड़े कौशल के साथ सरसते-बिलसते हैं। हाँ, जनाब, लोखर लिये फिरने के कारण मुझे निरा लोफर ही न समझिए।

नेत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय—तीनों का (त्रिविध) सुख मैं एक साथ ही लूटता हूँ, इसलिए मैं सौभाग्य-शाली भी किसी से कम नहीं हूँ। मेरी अनुभूतियाँ यदि किसी कवि के हाथ लग जायें तो उसमें बिहारी लाल की आत्मा चहक उठे।

'आदमी में नौआ, पंछी में कौआ'—इस प्रसिद्ध कहावत के अनुसार मेरी धूर्तता भी जग-जाहिर है। इसलिए वर्तमान युग में सर्वत्र ही मेरी जाति का बोल-बाला है। सभी देशों और सभी क्षेत्रों में मेरी जाति के लोग पाये जाते हैं। भले ही वे जन्मना हज्जाम न हों पर कर्मणा तो निश्चय ही हैं। मेरे छुरे से घुटी हुई दाढ़ी तो पनपती भी है, पर कर्मणा हज्जाम—क्षौर व्यवसायी 'मुण्डन मर्चेण्ट'—जिसकी हजामत बनाते हैं उसकी चाँद

गंजी कर डालते हैं : एक-एक खूँटी उखाड़ लेते हैं। फिर उसके सफ़ाचट चेहरे पर बाल उगते ही नहीं। मानव-जातिके भाग्य के हरे-भरे क्षेत्र को चर जानेवाले ये 'वैशाखनन्दन वस्तुतः दूर्वाकन्दनिकन्दन' हैं। इनकी चरी हुई खेती कभी फलती नहीं, इनके मूड़े हुए सिर सदा के लिए 'लुण्ड मुण्ड' बन जाते हैं।

आज-कल हजामत का पेशा बहुतों ने अपना लिया है। आँखें खोलकर चारों ओर देख लीजिए। यदि कोई नयी उमंग का नेता है तो निस्सन्देह नापित भी है, क्योंकि जनता की हजामत बनाना ही उसका धन्धा रोज़-गार है। दुनिया की सरकारें प्रजा की हजामत बनाती हैं। निरंकुश लेखक भाषा की हजामत बनाता है। स्वयम्भू कवि छन्दों की, डॉक्टर मरीज़ों की, वकील मुवक्किलों की, टिकट चेकर मुसाफ़िरों की, दुकानदार ग्राहकों की, पण्डा तीर्थ-यात्रियों की, समालोचक लेखकों की, सम्पादक पुरस्कार की, प्रकाशक पाठकों की और अनुवादक मूल भावों की हजामत बनाता है। कहाँ तक गिनाऊँ, सब तो हज्जाम ही हज्जाम हैं, तब भी विज्ञापनदाताओं से बढ़कर होशियार हज्जाम नहीं नज़र आता। इन लोगों ने कचहरी के अमलों के भी कान काट लिये हैं। हाँ, ऊँचे इजलास की कुरसी तोड़नेवाले भी अब न्याय को खूब मूड़ रहे हैं—निगोड़ी तोपें भी क़िलों की वैसी कपालक्रिया नहीं कर सकतीं। ये लोग अफ़गानों के हज्जाम हैं। स्वनाम-धन्य बाबू रामचन्द्र वर्मा ने अपनी अच्छी-हिन्दी पुस्तक में एक स्थल पर लिखा है कि अफ़गान लोग हज्जाम को सरतराश कहते हैं और उनके यहाँ हज्जाम की दुकानों की तख्तियों पर 'हेड कटर' लिखा है।

बलिहारी है शेविंग स्टिक और ब्लेड के आविष्कर्ता की, जिसने सभी सुशिक्षितों को हज्ज़ाम बना दिया है। इससे मेरी जाति की रोज़ी में खलल जरूर पड़ा है, लेकिन एक काम बड़े मज़े का हुआ है। कामिनियाँ विशेष लाभान्वित हुई हैं—वे ही असीसती होंगी आविष्कर्ता को। मूंछ तो अब मर्दानगी की पूँछ मात्र है। इस युग में भला मूंछ की मर्यादा ही क्या है? जब थी तब थी। अठारहवीं सदी के आरम्भ में मरमी कवि ने ठीक

कहा था—

"जिन मुच्छन धरि हाथ, कछू जग सुजस न लीनों।
जिन मुच्छन धरि हाथ, कछू पर काज न कीनों॥
जिन मुच्छन धरि हाथ, दीन लखि दया न आनी।
जिन मुच्छन धरि हाथ, कवौं पर पीर न जानी॥
अब मुच्छ नहीं वह पुच्छ सम, कवि मरमी उर आनिए।
चित दया दान सनमान नहिं, मुच्छ न तेहि मुख जानिए॥"

□ □

अपना परिचय

□

आरम्भ से ही आरम्भ करता हूँ।

मेरी खोपड़ी मेरे शरीर का वह उन्नत भाग है जो अकसर चौखटों से भिड़ा करता है।

इसी शिखर पर एक शिखा है जिसकी चकबन्दी गाय के खुर को परकार से नापकर की गयी थी।

लोगों का कहना है कि मेरी इस शिखा से मूर्खता टपकती है। लेकिन मेरा कहना है कि मूर्खता भी मूर्खता करती है जो टपकने के इतने स्थान छोड़ चुटिया से टपकती है।

कुछ साल पहले मैं कुल डेढ़ हड्डी का एक दमटुट और मरजीवा आदमी था। पूरा व्याधि-मन्दिरम् था। हूल और शूल से चूल-चूल ढीला पड़ गया था। माजून और मात्रा के बल पर शरीर यात्रा हो रही थी।

उन्हीं दिनों की बात थी कि एक रिक्तता का विज्ञापन देखकर मैंने अरज़ी भेजी और इण्टरव्यू के लिए बुला लिया गया। पर दफ़्तर का बड़ा बाबू मुझे देखते ही चीख पड़ा—'अजी तुम्हारा चेहरा तो बिलकुल चमरखसा है।'

'यह एक रही।' मैं कुड़बुड़ाया तो, पर बोला नहीं। उसने फिर कहा 'और तुम्हारी सूरत भी क्या खूब चमरपिलई-सी है।'

अब अति हो रही थी। मैं कुछ हूँ-टूँ करता पर वह बोलता गया—'नहीं, तुम मेरे मसरफ़ के नहीं हो। तुम्हारी शकल कहती है कि तुम अनेक लतों और इल्लतों के शिकार हो।'

'जी हाँ, हूँ तो।'—मैं ने कुढ़कर कहा—'गाँजा पीता हूँ, गँजीफ़ा

खेलता हूँ।'

'नहीं, कुश्ता खाया करो, कुश्ती लड़ा करो।' उसने तड़ाक से उत्तर दिया। था वह एक नम्बर का चटबोल आदमी।

ताव-पेंच खाता मैं उस दिन घर लौटा। उसकी चमरपिलईवाली बात मुझे लग गयी थी। पाठा बनने की धुन मन में हवा बाँध रही थी। यह तो मेरा देखा हुआ था कि मिक्सचर से शरीर का शनिश्चर नहीं जाता, और न चिरायता से चिरायुता मिलती है। काँटे से काँटा तो निकल जाता है लेकिन अरिष्ट से अरिष्ट नहीं निकलता। निदान मैं ने उसी दिन से डण्ड पेलना शुरू किया। अब मैं चीरे चार बधारे पाँच हूँ।

पर मेरी पढ़ाई-लिखाई विशेष लिखने-पढ़ने की वस्तु नहीं है। बड़ों ने, बूढ़ों ने, लाख सर मारा लेकिन मेरी शिक्षा-दीक्षा अस्ति और नास्ति के बीच की क्षीण रेखा सदृश रह गयी।

एक तरह से अच्छा ही हुआ। अधिक पढ़-लिखकर फ़ाज़िल होता तो जा दिल्ली में क़ाज़ी हो जाता। यों अपने को और किसी अर्थ का न पाकर मैं लेखक हो गया।

और लेखक अपनी लेखनी से अपने कान खुजलाते हैं, मैं अपनी लेखनी से औरों के दिल गुदगुदाता हूँ।

पर इसी लेखनी से, जवान था तो मैंने पापड़ बेला, अधेड़ हूँ, तो चौका लगा रहा हूँ, वृद्ध हूँगा तो शायद रहीम की तरह भाड़ भी झोंकूँ। सबसे अच्छा बचपन था जब लेखनी से बस जाँघियों में इज़ारबन्द डालना जानता था।

एक बार बौखलाकर मैंने अपनी इसी लेखनी से कितने गुरुओं को गोरू बना दिया। लोग तब खड़बड़ाकर कहने लगे कि साहित्य-गगन में यह झाड़ू तारा कहाँ से उदय हुआ।

यों तो मैं सभी अलंकरों को अपनी लेखनी की पकड़ में समेट लेता हूँ पर उपमा और उत्प्रेक्षा का मुझे पूरा प्रेत ही समझिए। ऐसे-जैसे का मैं ऐसा अभ्यासी हूँ जैसे माछेर-जोल के बंगवासी। मेरे लिए कोई चीज

सुन्दर है तो कश्मीर की झील की तरह, अनिवार्य है तो मुक़दमे में वकील की तरह, प्रिय है तो लड़कों की तातील की तरह, आवश्यक है तो चमरौधे में कील की तरह।

लेखकों में मैं बूढ़े विधाताको अपना आदर्श मानता हूँ जो एक बार ग़लत-सही जैसा कुछ लिख मारता है, उसके संशोधन-परिवर्तन का फिर नाम नहीं लेता।

अपनी क़लम का मैं ऐसा कलन्दर हूँ कि उसे जैसे चाहूँ नचाऊँ, पर वह खिलखिलाती अगर है तो दूसरों की खिल्ली उड़ाने में। दूसरों के गुण देखने में मैं अन्धा हूँ, दूसरों के गुण गाने में वह गूँगी है।

पर मैं ख़बरदार रहता हूँ कि ख़ुद मेरी खिल्ली कोई न उड़ाये। यही कारण है कि साहित्य के क्षेत्र में एक समालोचकों को छोड़, मेरी हर तरह के लोगों से पटरी बैठ जाती है। मेरी समझ में आज तक यह न आया कि साहित्य उपवन में इन निमकौड़ी बटोरनेवालों की आखिर क्या आवश्यकता थी। मेरी पक्की धारणा है कि नितान्त पंचकल्यानी लोग ही साहित्य-सेवा के नाम पर यह पुलिस-वृत्ति अख्तियार करते होंगे।

मैं अपने हृदय के पेंदे से उन बखेड़ियों की भर्त्सना करूँगा जो हिन्दी में व्याकरण बनाते चले जा रहे हैं। आप अगर चाहते हैं कि साहित्य खुलकर साँस ले तो व्यकरणरूपी बोआ-नाग की जकड़-बन्दी से उसे बचाइए। आज व्याकरण बनाइएगा, कल जेल बनाइएगा, परसों व्याकरण न माननेवालों को उन्हीं जेलों में ठूँस दिया जायेगा। व्याकरण का ज्ञान सच पूछिए तो, केवल वहीं तक अपेक्षित है जहाँ तक हम सन्तरी को सन्तरे का स्त्रीलिंग न समझें, रबड़ को रबड़ी का पुलिंग न समझें, और भावज को अगर भाभी पुकारते हों तो बड़े भाई को भाभा न पुकारें।

मेरी इन बातों को पढ़कर मुझे कोई बौड़म पुकारे तो मैं उसे क्षमा कर दूँगा, जैसे सूर्य उन लोगों को क्षमा कर देता है जो उसे पतंग पुकारते हैं।

मेरा घरेलू जीवन इस अर्थ में बड़ा सुखमय है कि घर की मालकिन

महोदया मुझे काठ-कबाड़ समझकर अधिक छेड़तीं नहीं। हाँ, यह ज़रूर है कि मेरा पति-परमेश्वर-पन वे बहुत पनपने नहीं देतीं।

पर इसका अर्थ नहीं कि हम दो की दुनिया में कहीं कोई दरार है। जीवन की एकरसता को दूर करने के लिए कोई झड़प हो जाये—वह दूसरी बात है। यों हम दोनों गणित को व्यर्थ करते हुए १ + १ = १ ही हैं।

अपने दीर्घ दाम्पत्य के दौरान में सदा गाँठ बांध रखने की जो बात मैंने सीखी है वह यह है कि यदि आप चाहते हों कि आपकी स्त्री ज्वाला-मुखी न बने तो उसे आप फुलझड़ी बनने से रोकें।

मेरे दूषणों का दफ़्तर खोलकर जब वे मेरे ऊपर स्फुलिंग बरसाने लगती हैं तब मैं खीस काढ़कर खगोल निहारने लगता हूँ।

मैं पूछता हूँ कि उन्हीं की तरह और जो लोग मेरी चिन्दी निकालते हैं वे यह क्यों नहीं सोचते कि मेरे दो ही तो हाथ हैं, उनसे मैं क्या-क्या करूँ। एक से करम ठोंकता हूँ, दूसरे से मुँह की मक्खी पुकारता हूँ। बाक़ी काम हमारे चतुर्भुजी भगवान् हमारे लिए करें न। उन्हें हमने चार हाथ दे किसलिए रखे हैं?

पर सच यह नहीं है कि मैं कुछ करता नहीं। राष्ट्र-सेवा मैं बखूबी कर लेता हूँ। अभी कल ही मैंने कई प्रकार से राष्ट्र सेवा की। राष्ट्रीयता के कई विरोधियों का मन ही मन विरोध किया और राष्ट्रीयता पर एक लेख पढ़ता-पढ़ता सो गया।

राष्ट्र सेवा के अनेक रूप हो सकते हैं। मैं तो बैठक में राष्ट्रनायकों के चित्र लटका लेना भी कम राष्ट्रीयता नहीं मानता। एक बार एक बड़े नेता के साथ एक ही शतरंजी पर बैठने का संयोग प्राप्त हुआ। उसके कई दिन बाद तक मुझे अपने मस्तक के चारों ओर एक तेजोमण्डल का आभास मिलता रहा। बिना राष्ट्र-सेवा की भावना के यह कहाँ सम्भव था?

पुरुष पुरातन की वधू ने मेरी ड्योढ़ी कभी पार नहीं की। इसलिए अपनी शान को मैं पुरवट के धान से अधिक नहीं समझता। कोई कान

पकड़कर थोड़ी देर के लिए हाथी-घोड़ा-जीन पर बिठा भी दे तो मैं अपने करवा और कौपीन को न भूलूँ।

भूख अच्छी लगती है, माँड़ भी बसौंधी का मजा दे जाता है। आज खाता हूँ कल को झंखता नहीं। चरबी इतनी चढ़ती नहीं कि सुवाला और दुशाला का प्रयोग किसी जाड़े में आज़माने की सोचूँ। बाज़ार यहाँ पहले का लुट चुका है, रमैया की दुलहिन अब क्या लूटेगी ?

नींद भी अच्छी आती है, कुकुरझपकी नहीं बल्कि घोड़ाबेच। फ़र्श-पर एक टुकड़ा टाट हो तो छप्पर-खट की बाट न देखूँगा। लोगों का कहना है कि नींद में जो मैं संज्ञाहीन होता हूँ सो उसकी संज्ञा है कुम्भकर्णिका।

भोजन के रसों में मुझे मधुर अतीव प्रिय है। केवल इस मिष्टान्न पर मैं महीनों आनन्दपूर्वक टेर ले जाऊँ। अवश्य ही यह उत्कट संस्कार पूर्वजन्मों में बारम्बार ब्राह्मण का चोला पाने से प्राप्त हुआ होगा। जो हो, मीठा-विषयक मेरा प्रेम कमज़ोरी की हद को भी पार कर गया है। एक तबलीगी मुल्ला ने मुझे मुसल्लम-ईमान बनाने के लिए अनेक प्रलोभनों में एक यह भी प्रलोभन दिया था कि मरोगे तो तुम्हें शक्कर के बोरे में दफ़नाऊँगा।

रहनी अपनी रहस्यों से रहित और असाधारण रूप से साधारण है। अपने में कोई विशेषता नहीं है। यही अपनी विशेषता है। जैसे बन्दर को आदी है, भैंस को बीन है, खर को आखर है, वैसे ही अपने लिए साहित्य-संगीत और कला है।

पर फुटकर बातों का ज्ञान मेरा बहुत है। उसमें कोई डाड़ी नहीं मार सकता। मैं जानता हूँ कि लाल स्याही और नमकीन मिठाई कहना ग़लत है। मैं जानता हूँ कि बालू से तेल न निकले पर मिट्टी का तेल बराबर निकलता है। मैं जानता हूँ कि तसली धातु की होती है और तसल्ली बात की। मैं जानता हूँ कि मैं दीया जलाऊँगा, लम्प भी जलाऊँगा, पर दोनों मिलाकर दम्प नहीं जलाऊँगा। मैं जानता हूँ कि मेरे पुरखे ने किसी पेशवा को पेशराज पुकारा होता तो क्या होता और मैं किसी मल्ल को

मल्लू पुकारूँगा तो क्या होगा ?

दुनियादारी में, दुनियादारी की दुनिया में मैं काफ़ी रम चुका हूँ। सहस्रों बातें मैंने देखी हैं, सुनी हैं, समझी हैं और मनोनोट की हैं। अनुभव की आँच पर मैं पाकठ हो चुका हूँ। घाघ की, सन्त और चण्ट की पहचान कर लेता हूँ। साँटी से काम नहीं चलता तो वेंवड़ा उठाता हूँ। व्यवहार की शिक्षा देना साँभर के इलाक़े में नमक भेजना है।

अद्धा पेट में हो और अधेली टेंट में हो तो राजाधिराजाओं को भी अपने पैरों का धोवन समझूँ। कोई रघुवंशी, सोमवंशी, यदुवंशी रहा हो पर मैं गोवंशी हूँ। मेरा आदर्श वह सन्तोष है जो किसी बैल को पूरा भूसा पानेपर प्राप्त होता है।

एक बार एक दुर्घटना हुई। किसी निराहार व्रत के पारण के अवसर पर ठाकुरजी को भोग लगाते समय, मन्त्रोच्चारण के लिए मैंने मुँह जो खोला तो नैवेद्य की थाली ही में मेरी राल चू पड़ी। तब से मैं व्रत-उपवास भी कभी नहीं करता।

यों अपने धर्म-कर्म से मैं चौकस रहता हूँ पर दान-दक्षिणा की विशेष समायी अपनी थोड़ी कमाई में है नहीं। हाँ, एक काम ज़रूर करता हूँ, अपने क़र्ज़ सदैव कृष्णार्पण कर दिया करता हूँ।

और किसीने भगवान् को न देखा हो, पर मैंने देखा है। अन्तिम बार जब मेरा उसका साक्षात् हुआ था, वह मेरी आशाओं और अभिलाषाओं की समाधि पर सुखासन लगाकर बैठा हुआ था। मुझे देखकर उसके सुचिक्कण भालस्थल पर जो सिलवटें प्रकट हुईं वे ऐसी कान्त और कमनीय थीं जैसे रच-पचकर लगाया हुआ खौर। आमर्ष आयत और आरक्त उसके विलोचन यों खिल रहे थे जैसे अरुणारविन्द के सुन्दर सुरंग दल।

उसके एक हाथ की तर्जनी हेम-दण्डिका-सी मेरी ओर विचलित हो रही थी। कंज-कोश-सी बद्ध, दूसरे हाथ की मुष्टिका मेरी ही दिशा में भरपूर तनी हुई थी। तीसरा हाथ महामनोहारी अर्द्धचन्द्र मुद्रा में मेरी नटवे की ओर उठा हुआ था। चौथे में तड़ित्-प्रभायुक्त वह दुरमुस

विराजमान था जिससे कई बार कूट-पीटकर वह मुझे मटियामेट कर चुका है।

उसके सब हाथ इस प्रकार फँसे देख मुझे प्रसन्नता हुई कि इस बार भी वह सदा की भाँति झट अपने कानों में उँगली तो नहीं डाल सकेगा और मेरी छोटी-सी प्रार्थना अब उनमें पड़ तो रहेगी। फिर मानना न मानना उसकी मरज़ी।

अतः मैंने, तुरन्त बद्धांजलि होकर महाकवि चच्चा के शब्दों में कह डाला—

"है जलपान समान तुम्हें हलाहल पान प्रभु।
किन्तु चचा वरदान चाहत भोजन रुचिर चिर।
सपथ चचा की साँच निहचै तारहु नाथ मोंहि।
पै लंघन की आँच भव-बन्धन जिन जारियो॥"

□ □

गुलाबराय

मेरा मकान

□

मुसलमानों के यहाँ मुसव्वरी करना गुनाह समझा जाता है, क्योंकि चित्रकार एक प्रकार से खुदा की बराबरी करने की स्पर्द्धा रखता है। शायद इसीलिए अल्लाहताला लेखकों से भी नाराज़ रहते हैं क्योंकि वे भी अपने रचनात्मक कार्य द्वारा परमात्मा की होड़ करते हैं। कवियों ने अपनी रचना को एकदम परमात्मा की सृष्टि से भी बढ़ा हुआ बतला दिया है। काव्य-प्रकाश के कर्ता मम्मटाचार्य ने कहा है कि कवि की भारती विधि की सृष्टि से परे और शुद्ध आह्लाद से बनी हुई है। भगवान् की सृष्टि में तो शुद्ध आह्लाद बिजली के प्रकाश में भी खोजने पर बड़ी मुश्किल से मिलता है किन्तु लेखक अपनी कल्पना की उड़ान में उसे सुलभ बना देते हैं। फिर परमात्मा लेखकों से क्यों न रूठे? यदि लेखक लोग शब्दों के महल और हवाई क़िलों के अलावा ईंट-चूने के मकान बनाने का साहस करें तो नीम चढ़े करेले की बात हो जाये। ईश्वर मनुष्य की इस डबल स्पर्धा को कहाँ सहन कर सकते?

मेरे साथ भी कुछ ऐसा हुआ। ठोक-पीटकर लोगों ने मुझे लेखक-राज बना ही दिया और मैं स्वयं भी अपने को पाँचवें सवारों में गिनने लगा। अपने को बड़ा आदमी समझने के कारण ही छतरपुर से नौकरी छोड़ने के पश्चात् दूसरी जगह की नौकरी न निभा सका। नौकरी करना तो टेढ़ी खीर है। उसमें बड़े आत्म-संयम की ज़रूरत है किन्तु मैं तो जैन बोर्डिंग हाउस के लड़कों को क़ायदे के घेरे में बन्द करने का बाइज़्ज़त काम भी न सँभाल सका। अब यदि इतने पर भी सन्तुष्ट रहता तो ग़नीमत थी—बाप-दादों की नहीं, अपनी ही भलमनसाहत लिये बैठा

रहता तबतक विशेष हानि नहीं थी।

दूसरे प्रोफ़ेसरों को कोठियों में रहते देख (मैं भी प्रोफ़ेसरों में क़रीब-क़रीब बेमुल्क नवाब हूँ) मुझे भी कोठी बनाने का शौक़ चर्राया। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोंदारामजी ठेकेदार तो चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के क़िले की टक्कर का एक दूसरा क़िला बनवाऊँ और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोपड़ी डाल लूँ। इन्हीं परस्पर विरोधिनी इच्छाओं के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया जो अभी सामने से एक मंज़िल है और पीछे से दो मंज़िला है।

मैं चाहता तो झोपड़ी ही बनाता, परन्तु जिस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारों पर विजय पाना कठिन हो जाता है उसी प्रकार नींव की दीवारें चौड़ी चिनकर उनपर झोपड़ी बनाना असम्भव हो गया। प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख कहे जाने का भार अपने ऊपर लेने को तैयार न था। जब लोग इतनी बड़ी ब्रिटिश सरकार को 'टापहैवी' कहने में नहीं चूकते तो मेरे मकान को 'बाटम हैवी' कहने से किसका मुँह बन्द किया जाता। टाप हैवी के लिए तो एक बहाना भी है—सिर बड़ा सरदार का—मेरे पास ऐसा कोई बहाना भी न था। मैं शहर में रहकर गँवार नहीं बनना चाहता था। मकान फूस से क्या लकड़ी से भी न पटा। उसमें डाटें लगायी गयीं। उस सम्बन्ध में मेरे छोटे भाई बाबू रामचन्द्र गुप्त तथा मेरी श्रीमतीजी ने बड़े भाई लाला कालीचरण जी ठेकेदार महोदय को कई बार डाट-फटकार बताने का मौक़ा पाया।

अब मैं डाट का अर्थ समझ गया—डाट ईंट-चूने की उस बनावट को कहते हैं जो सदा अपना भार लिये धूप और मेह के साथ रण में डटी रहती है। किन्तु उसे डटी रहने के लिए स्वयं धूप और मेह की परवाह न करके डटा रहना पड़ता है और समय-समय पर ठेकेदार को भी डाट देनी पड़ती है। इस प्रकार मेरा शब्द-कोश (अर्थ-कोश नहीं) बहुत बढ़ गया है, अब मैं कुछ, डाढ़ा, चीरा, हाफ़ सेट, हौल पास, नासिक, चश्मा,

ठैवी आदि वास्तुकला के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझने लगा हूँ। एक बात और भी मालूम हो गयी है। आजकल की सभ्यता की काट-छाँट का प्रभाव वास्तुकला पर भी पड़ा है। इस युग में मूँछें कट-छँटकर तितली बनीं और फिर तितली बनकर उड़ गयीं। कोट आधे हो गये। पैण्ट भी शॉर्ट हो गयीं। कमीज की बाँहें और गले मुख्तसर बनने लगे। जूतों का स्थान चप्पल और सेण्डलों ने ले लिया। नाटक एकांकी ही रह गया। इसी प्रकार मकानों में चौखट न बनकर तिखट बनने लगीं। आजकल की चौखटों के नीचे की बाजू नहीं होती। सूर के बालकृष्ण को देहली लाँघने में जो कठिनाई हुई थी वह मेरे नाती-पोतों को नहीं होगी।

अर्थ-कोष के क्षय के साथ शब्दकोश की वृद्धि उचित न्याय है—'एवज मावजा गिला न दारद।' इधर लेखा उधर बराबर हो गया। और नहीं तो परिवृति अलंकार का एक नया उदाहरण मिल गया है। बेर देकर मोती लेना कहूँ या इसका उलटा?

जिस प्रकार शुरू में जनमेजय के नागयज्ञ की तरह ईंट-चूने का स्वाहा होता था उसी प्रकार पीछे धन का स्वाहा होने लगा, और मैं भी घर फूँक तमाशा देखने का अस्पृहणीय सुख अनुभव करने लगा। एक के बाद दूसरी पास-बुक चुकती हुई, फिर कैश सर्टिफ़िकेटों पर नौबत आयी, और पीछे रिज़र्व बैंक के शेयर बाण्ड भी जो भाग्यशालियों को ही मिले थे, अछूते न रहे। वे बेचारे भी काम आये। मैं पुरुष पुरातन की वधू के मादक संसर्ग से मुक्त हो गया। अस्तु यह थोड़ा लाभ नहीं। कविवर बिहारीलाल ने कहा है—

"कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराय नर, वा पाये बौराय॥"

अब मुझे कनक (धन) मद न सता पायेगा और मैं 'बौराया' न कहाऊँगा। दार्शनिक के नाते यदि कोई मुझे पागल कह लेता तो मैं इसे दार्शनिक होने का प्रमाण-पत्र मानकर प्रसन्न होता, किन्तु धन-मद से लांछित होना मैं पाप समझता हूँ। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल पर अनन्त श्रद्धा

रखता हुआ भी मैं यह कहने को तैयार हूँ कि धन के मद से तो भंग भवानी और वारुणी देवी का मद ही श्रेयस्कर है। इसमें अपना ही अपमान होता है दूसरे का तो नहीं।

एक महाशय ने मेरे घर के तहख़ाने को देखकर कहा कि आपके घर में ठण्डक तो ख़ूब रहती होगी? मैंने उत्तर दिया कि जी, हाँ। जब रुपये की गरमी न रही तब ठण्डक रहना एक वैज्ञानिक सत्य ही है। इस-पर उन्होंने तहख़ानों के सम्बन्ध में सेनापति का निम्नलिखित छन्द सुनाया—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चुवति लुवैं
नद नदी कुवै कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन मुरझात उपवन बन,
लाग्यो है तपन डारयौ भूतलौं तपाइ कै।
भीषम तपत रितु, ग्रीषम सकुचि तातैं
सीरक छिपी है तहख़ानन में जाइ कैं।
मानो सीत कालैं, सीत लता के जमाइवे कौं,
राखे हैं विरंचि बीज धरा में धराइ कै।"

मैंने कहा भाई साहब वस्तु हाथ से गयी, फिर छाया भी न मिले, तो पूरा अत्याचार ही ठहरा। पहले के लोगों के तहख़ाने धन से भरे रहते थे, अब छाया ही सही। यदि गेहूँ नहीं तो भूसा ही ग़नीमत है।

धन का रोना अधिक न रोऊँगा। अब और लाभ सुनिए। बाहर मकान बनाने का सबसे बड़ा प्रलोभन यह होता है कि उसमें थोड़ी-सी खेती-बारी करके अपने को वास्तव में शाकाहारी प्रमाणित किया जाये। मेरी खेती भी उन्हीं लोगों की-सी है जिनके लिए कहा गया है : "कर्महीन खेती करै, वर्ष भरे या सूखा परै।"

जब घर बनाने के लिए टेढ़ रुपया रोज़ ख़र्च करके दूसरे के कुएँ से पैर चलवाकर हौज़ भरवा लेता था तबतक ही खेती ख़ूब हरी-भरी दिखलाई देती थी। माली महोदय भी 'माले मुफ़्त दिले बेरहम' की

लोकोक्ति का अनुकरण करते हुए पानी की कंजूसी न करते थे। उन दिनों चाँदी की सिंचाई होती थी, फिर भी शाक-पात के दर्शन क्यों न होते? पालक के शाक की क्यारी तो कामधेनु सिद्ध हुई। जितनी काटते उतनी ही बढ़ती। वह वास्तविक अर्थ में पालक थी। गोभी के फूल भी खूब फूले। उन्हें अधिकार से खाया भी क्योंकि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में फलों का ही निषेध किया गया है, पत्तों और फूल का नहीं। भगवान् ने कहा है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" किन्तु जब मकान बन चुका तो अपने ही आप पानी देने की नौबत आयी। अब तो श्रीमद्-भगवद्‌गीता का वाक्य अक्षरशः सत्य होता दिखलाई देता है। दिन-रात सिंचाई के बाद भी पत्र और पुष्प ही दिखलाई देते हैं। खेत सींचने में निष्काम कर्म का आनन्द मिलता है। मेरी खेती पर मालूम नहीं, अगस्त्यजी की छाया पड़ गयी है कि जल से प्लावित क्यारियों में शाम तक पानी का लेशमात्र भी नहीं रहने पाता। बाबा तुलसीदासजी का अनुकरण करते हुए कह सकता हूँ जैसे खल के हृदय में सन्तों का उपदेश। भगवान् की तरह मैं भी कुएँ पर खड़ा हुआ रीतों को भरा और भरों को रीता किया करता हूँ। मालूम नहीं भगवान् इस स्पर्द्धा का क्या बदला देंगे? इतना सन्तोष अवश्य है कि मेरे कुएँ का पानी मीठा निकला है। इसमें पूर्वजों का पुण्य-प्रताप ही कहूँगा। कुएँ का जल ऐसा है कि कभी-कभी मुझे क़सम खानी पड़ती है कि यह नल का नहीं है। "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति" अर्थात् बाप-दादों का कुआँ है। ऐसा कहकर कायर पुरुष खारा पानी पीते हैं। सौभाग्य से मेरी सन्तान के लिए ऐसा न कहा जायेगा।

मेरी खेती में से सिर्फ़ इतना ही लाभ है कि मुझे पौदों की थोड़ी-बहुत पहचान हो गयी है। मैं लौकी और काशीफल, टिण्डे और करेले के पत्तों में विवेक कर सकता हूँ। मैं देहली दरवाज़े रहते हुए भी देहली के उन लोगों में से नहीं हूँ जिन्होंने कभी अपनी उम्र में चने का पेड़ नहीं देखा। बहुत कुछ जमा लगने पर मैं यह तो न कहूँगा कि कुछ न जमा।

जमा सिर्फ़ इतना ही कि मेरे यहाँ की भूमि वन्ध्या होने के दोष से बच गयी। जिस प्रकार हज़रत नूह की किश्ती में सब जानवरों का एक जोड़ा नमूने के तौर पर बच रहा उसी प्रकार मेरी खेती में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए दो-दो नमूने हर एक चीज़ के मिल जायेंगे और बाबा तुलसीदासजी के शब्दों में यह कहना न पड़ेगा—

ऊसर बरसे तृण नहिं जामा।
सन्त हृदय जस उपज न कामा।"

ज़मीन को क्यों दोष दूँ। मेरी खेती पर चिड़ियों की भी विशेष कृपा रहती है, ये मेरे बोये हुए बीज को ज़मीन में पड़ा नहीं देख सकतीं और मैं भी खेत चुग लिये जाने के पूर्व सचेत नहीं होता। फिर पछतावे से क्या?

मैं अपनी छोटी-सी दुनिया में किसानों की अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभा, शुका सभी ईतियों का अनुभव कर लेता हूँ। सोचा था वर्षा के दिनों में खेती का राग अच्छा चलेगा किन्तु गढ़े में होने के कारण साधारण वृष्टि भी अतिवृष्टि का रूप धारण कर लेती है। दो रोज़ की वर्षा में ही जलप्लावन हो गया। सृष्टि के आदिम दिनों का दृश्य याद आ गया। मुझे भी अभाव की चपल बालिका चिन्ता का सामना करना पड़ा। पसीना बहाकर सींचे हुए वृक्ष, जिन्हें बड़ी मुश्किल से ग्रीष्म के घोर आतप से बचा पाया था, जल-समाधि लेकर बिदा हो गये। जीवन (जल) ही उनके जीवन का घातक बना।

शहर से कुछ दूर होने के कारण मेरे नापित महोदय मेरे ऊपर अब कृपा नहीं करते। यद्यपि मेरे नापितदेव धूर्त तो नहीं हैं तथापि नापित को शास्त्रों में ऐसा ही कहा है—'नराणां नापितो धूर्तः।' इस प्रकार मेरा एक धूर्त से पीछा छूटा। जो तृतीय श्रेणी के न्यायी ब्राह्मण मेरे ऊपर कृपा करना चाहते हैं उनपर कृपा करने से मुझे संकोच होता है। अब मैं स्वयं सेवक (स्वयं शेव करनेवाला) बन गया हूँ और देश के हित में टमाटर और पालक के विटामिन बाहुल्य से बने अपने अमूल्य रक्त के दो-

चार बिन्दु नित्य समर्पण करना सीख गया हूँ। शायद सर कटने की कभी नौवत आये तो इतना संकोच नहीं होगा। सर के बजाय बाल तो दो-चार महीने में और नाखून दो-एक सप्ताह में कटवा ही लेता हूँ। फिर भी लोग कहते हैं बलिदान का समय नहीं रहा।

मैं अपने मकान तक पहुँचने के रास्ते के सम्बन्ध में दो-एक बात कहे बिना इस लेख को समाप्त नहीं कर सकता। उससे मुझे जो लाभ हुआ है वह उमर-भर नहीं हुआ था। मैंने अपने जीवन में इस बात की कोशिश की थी कि दूसरों को धोखा न दूँ। इसलिए मुझे गालियाँ भी शायद ही मिली हों। लेकिन इस सड़क की बदौलत मुझे इक्के-ताँगेवालों से रोज़ गालियाँ सुननी पड़ती हैं। पीठ फेरते ही वे कह उठते हैं—बेईमान दिल्ली दरवाज़े की कहकर गाँव के दगड़े में खींच लाया है। मैं भी उनकी गालियों का विवाह की गालियों के समान आदर करता हूँ और चुंगी के विधायकों का स्मरण कर लेता हूँ 'कबहुँक दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान।' गाँव की सड़कें भी इसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकतीं। वन जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी के सम्बन्ध में तुलसीदासजी ने कहा है कि 'कठिन भूमि कोमल पद गामी।' पवित्र व्रज रज तथा खाके बरतन से पूर्ण इस सड़क में जूते इस प्रकार से समा जाते हैं जैसे किसी साहब के ड्राइंगरूम के कुशन में शहर के किसी मोटे रईस का सारा शरीर। यदि कहीं जूतों को धूलि-धूसरित होने से बचाकर उनकी शान रखना चाहूँ, तो दूसरों की ट्रेन पास करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। किन्तु इसमें मेरी शान जाती है। दूसरी कोठियों के लोग वाणी से नहीं किन्तु कभी-कभी मधुर व्यंग्य द्वारा अवश्य विरोध करते हैं। रात्रि को जब घर लौटता तो कबीर के बतलाये हुए ईश्वर-मार्ग की कनक और कामिनी रूपिणी बाधाओं के समान सूद और लाल की कोठियाँ मिलती हैं। मेरी पगध्वनि सुनते ही उनके श्वानदेव उन्मुक्त कण्ठ से मेरा स्वागत करते हैं। उनके लिए मुझे दण्डधारी होकर कभी-कभी उद्दण्ड होना पड़ता है। अब मुझे इन स्वाभाविक पशुओं के नाम भी याद हो गये हैं। एक का नाम टाइगर है, दूसरे का

कमलू। नामोच्चारण करने से दण्ड का प्रयोग नहीं करना पड़ता। जब इन घाटियों को पार कर लेता हूँ तभी जान में जान आती है। हमारे घर में ही बिजली का प्रकाश है किन्तु रास्ते में पूर्ण अन्धकार का साम्राज्य रहता है। और मुझे उपनिषदों का वाक्य याद आता है 'असूया नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता।' मालूम नहीं उसके लिए कौन-से पाप का उदय हो जाता है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रार्थना करता हुआ जैसे-तैसे राम-राम करके घर पहुँचता हूँ। रोज सवेरा होता है और उन्हीं मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

इन सब आपत्तियों को सहकर भी बस इतना ही सन्तोष है कि उन्मुक्त वायु का सेवन कर सकता हूँ और बग़ीचे के होते हुए मुझे यह समस्या नहीं रहती कि क्या करूँ? जूतियाँ सीने से अधिक श्रेयस्कर काम मिल जाता है। शास्त्रकारों का कथन है:

"बेकार मुवाश कुछ किया कर
यदि कुछ न हो तो जूतियाँ सिया कर।"

और कुछ नहीं होता तो खुरपी लेकर क्यारियों को ही निराता रहता हूँ, और चतुर किसानों में अपने गिने जाने की स्पर्द्धा करता रहता हूँ:

'कृषी निरावहिं चतुर किसाना।' पं. रामनरेश त्रिपाठी ने सन की गाँठ के आधार पर बाबा तुलसीदासजी को किसनई का पेशेवाला प्रमाणित किया है। इस बात से मुझे एक बड़ा सन्तोष हो जाता है कि और किसी बात में न सही तो खेती के काम में ही भक्तशिरोमणि की समानता हो जाये।

अब मेरा यह निष्कर्ष है कि मुझ-जैसे बेकार, सकल साधनहीन आदमी को, जिसके यहाँ न कोई सवारी-शिकारी और न दो-चार नौकर-चाकर हैं, (वैसे तो हमारे उपनिवेश के सभी लोग 'स्वयं दासास्तपस्विनः' वाले सिद्धान्त के माननेवाले हैं....) कोठी बनाकर न रहना चाहिए।

□ □

ज़हूरबख़्श

दवाई

□

मियाँ रहमत ने चेहरे पर तौलिया रगड़ते-रगड़ते फ़रमाया—"अब तो ख़ुदा के वास्ते बिस्तर छोड़ो। देखती नहीं कितना दिन चढ़ आया है। सहन पर धूप चमक रही है। हाथ-मुँह धो डालो, एक प्याला चाय पी लो, ऊपर से दो बीड़े खा लो, तबीयत तरो-ताज़ा हो जायेगी। यों सोने को दिन-भर सोया करो, सुस्ती ही बढ़ेगी। और तुम्हें है क्या? ज़ुकाम ही न? दो-एक रोज़ में आप ही पच जायेगा। चाहो, तो अण्डे की एक टिकिया खा लो। मगर तुम्हें समझाये कौन मानो तब न। ज़रा सर-दर्द हुआ और खाट पकड़ ली। हमारी अम्मीजान चढ़े बुख़ार में चक्की पीसा करती थीं। उनका कहना था कि चक्की सौ बीमारियों की दवा है। एक तुम हो, जैसे लाजवन्ती का पौधा, उँगली दिखलायी और कुम्हला गया। मेरी बात मानो, एक महीना चक्की पीसो, चेहरा मानिन्द सेव के सुर्ख़ न हो जाये तो मेरा ज़िम्मा। मज़दूरनियों को देखो, दिन-भर मेहनत-मशक़्क़त करती हैं, रूखा-सूखा खाती हैं, मगर उनकी तन्दुरुस्ती रश्कके क़ाबिल होती है। तो इसकी वजह क्या? यही कि...."

बेगम साहबा शायद छत की कड़ियाँ गिन रही थीं। एकदम भनभना-कर बैठ गयीं और मियाँ रहमत की तरफ़ तेज नज़र से ताकती हुई बोलीं—"तो तुम्हारी यही मंशा है कि मैं मज़दूरी करूँ, चक्की चलाऊँ? अच्छी बात है यही करूँगी। मगर एक बात बताओ। जब-जब मेरी तबीयत बिगड़ती है, तुम आपे से बाहर क्यों हो जाते हो? मुझे बीमार बनने का शौक़ नहीं है, मगर अपने फूटे नसीब को क्या करूँ? तीन दिन से तड़प रही, हूँ, जैसे मछली। मारे दर्द के सर फटा जाता है, हड्डी-हड्डी

टूटी जाती है, भीतर-ही-भीतर बुखार तमाम जिस्म को तोड़ रहा है। नाक से साँस लेते तो बनती नहीं, और ज़ुकाम तुम्हारे लेखे कोई मर्ज़ नहीं है। तबीयत का हाल पूछना दूर रहा, दवा-दारू की फ़िक्र भाड़ में गयी, चक्की और मज़दूरी का तराना लेकर बैठ गये। लगे अपनी अम्मीजान की तारीफ़ मारने। कोई मरे चाहे जिये, तुम्हारी बला से। एक मैं हूँ तुम्हारी तबीयत ज़रा बिगड़ जाती है, तो यहाँ दम फूल उठता है। अल्लाह से दुआ माँगती हूँ, मन्नतें मानती हूँ। मगर तुम्हें इन बातों से क्या मतलब। तुम्हारी तो वही मसल है कि अपने लिए पाँच का गण्डा, ग़ैर के लिए तीन का गण्डा। पारसाल ही की बात है, हज़रत को तीन-चार रोज़ बुख़ार आ गया था। घर-भर को सिर पर उठा लिया था। यह डॉक्टर कुछ नहीं जानता, हकीम साहब को बुलाओ। हकीमजी तो पहले दरजे के गधे हैं, दवा करना तो बस, वैदजी जानते हैं। कह दो, मैं झूठ कहती हूँ। कहीं उस वक़्त मालूम होता चक्की का नुस्खा, तो मैं तुम्हें चक्की पर ही बिठाती, और फिर बताती।' यह कहते-कहते बेगम साहबा के होंठों पर मुसकराहट आ गयी।

मियाँ रहमत भी मुसकराकर बोले—"ए लो, तुम तो इल्ज़ाम पर इल्ज़ाम लगाने लगीं। मैं, और फ़िक्र न करूँ, भला कभी ऐसा हुआ है? ज़रा तो सच बोला करो। तुम्हीं कहो साल में कितनी मर्तबा हकीमों और वैद्यों की चौखटों पर एँड़ियाँ रगड़ा करता हूँ। तुम्हारे ही लिए या किसी ग़ैर के लिए! अच्छा भई, ख़ता माफ़ करो, अभी किसी को बुलाये लाता हूँ।"

बेगम साहबा ने कहा—"तो मैं यह कहाँ कहती हूँ कि तुम मेरी फ़िक्र नहीं करते? पर, तुम्हारी फ़िक्र ऐसी है कि मियाँ खिलाते तो बहुत हो, मगर जूतियाँ बुरी मारते हो। और तुम इस सिकन्दर को क्यों नहीं डाँटते? घड़ी में आठ बज रहे होंगे और वह मुई अबतक लापता है। इसने तो मेरा जी जला डाला। न बात-चीत करने का शऊर, न काम-काज का सलीक़ा। घण्टों एक ही काम के लिए बैठी रहेगी। तुम्हें और

अच्छी नौकरानी नहीं मिलती क्या ? क्या कहा; बेचारी बहुत ग़रीब है। ग़रीब है तो क्या, उससे मुफ़्त काम लेते हैं। खाना-कपड़ा देते हैं, ऊपर से महीने के महीने चार रुपये अलग। बीबी और कहीं होती, तो आटे-दाल का भाव मालूम पड़ जाता। मगर यहाँ तो 'मुद्दई सुस्त, गवाह चुस्त' वाला मज़मून है और यह ठीक भी है, परेशान तो वह मुझे करती है तब तुम्हें उससे क्या वास्ता ? अरे, तो अब आइना-कंघा लेकर बैठ गये। क्या कहा, बालों में कंघा न करूँ ? नहीं साहब ख़ूब शौक़ से माँग-पट्टी सँभालो। मगर इसके क्या मानी कि औरतों के माफ़िक चार घण्टे सिंगार-पटार में गुज़ार दिये। तीन महीने से वह किताब लिख रहे हैं, और पूछो, लिखा कितना, केवल पचास सफ़े। इसी को कहते हैं—नौ दिन चले अढ़ाई कोस। लिखा भी कैसे जाये। सात बजे सोकर उठे, टेढ़ घंण्टे हाथ-मुँह धोया किये। डेढ़ घण्टे बाल सँवारते और कपड़े पहनते रहे। लीजिए साहब, दस बज गये। हबर-हबर खाना खाया और तावड़तोड़ दफ़्तर का रास्ता लिया। लौटेंगे आप किस वक़्त—कभी आठ बजे, कभी नौ बजे। अब पूछती हूँ कि छुट्टी तो पाँच बजे हो जाती है, आप अबतक कहाँ रहे, तो जवाब मिलता है—रास्ते में पण्डितजी मिल गये थे, उन्होंने पीछा ही न छोड़ा। गोया वह इनको बाँधकर बिठा लेते हैं। जोड़ी ख़ूब जुड़ी है : जैसी रूह वैसे फ़रिश्ते। दोनों जहाँ खड़े हो जायेंगे, तो धरती हाय-हाय करेगी। ख़ुदा जाने, काहे के मुँह बनाये हैं कि घण्टों बातें करते हैं मगर थकना नहीं जानते। जब प्रकाशक तकरार करेगा, तो मेरी बीमारी का बहाना बना-बनाया है। गोया मैं हमेशा बीमार बनी रहती हूँ, और आप चौबीसों घण्टे मेरी तीमारदारी में लगे रहते हैं।"

इसी समय वहाँ सिकन्दर ने दबे पाँवों प्रवेश किया। हवा का रुख एकबारगी तबदील हो गया और तमाम बौछार उसी पर जा पड़ी—"अख्खाह ! आप हैं। आयीं तो बहुत जल्दी। अभी आठ ही तो बजे होंगे ? क्या कहा, कौन बहुत देर हो गयी है। जी नहीं, बिलकुल देर नहीं हुई। देर तो तब कहलाती, जब आपकी सवारी दस बजे तशरीफ़ लाती। सुनो

बीबी, साफ़ बात है, तुम्हें काम न करना हो, इनकार कर दो। कुछ ज़बरदस्ती नहीं है। मगर मुझे रोज़-रोज़ की यह माथा-पच्ची पसन्द नहीं। हज़ार मर्तबा समझा दिया कि बीबी जल्द आया करो, बात की बात में दस बजते हैं। उन्हें दफ़्तर जाना है, मगर तुम्हारे कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। भले घोड़े को एक चाबुक और शरीफ़ आदमी को एक बात की ज़रूरत रहती है। मगर यहाँ तो जब देखो, कुत्ते की दुम टेढ़ी की टेढ़ी। अरे! तो अब खड़ी ही रहोगी? पैरों में मेंहदी तो रची नहीं है? लोटे में पानी ले लो और उनको धोकर भीतर आ जाओ।'

मियाँ रहमत जूते पहचानने लगे, तो बेगम साहबा बोलीं—"अब कहाँ चले? नीमवालों को बुलाने। मगर ऐसी भी क्या जल्दी, चाय तो पी लो। अभी दम-भर में तैयार होती है। सिकन्दर, जल्दी से आग सुलगाकर चूल्हे पर पतीली चढ़ा दो। अरे, तुम मानोगे नहीं? तुम्हारी यही ज़िद्द मुझे अच्छी नहीं लगती। मगर लौटना जल्दी। मैं तुम्हें खूब जानती हूँ। जहाँ गये वहीं के हो गये। रास्ते में कोई दोस्त-आशना मिल गया, उसी से गप्पें हाँकने लगे। सिकन्दर, तुम्हीं बताओ, मैं झूठ कहती हूँ?"

"झूठ से तुम्हें वास्ता ही क्या? अच्छा, घबराओ नहीं, तुम्हें ज़्यादा इन्तज़ार करना न पड़ेगा।" कहते हुए मियाँ रहमत लपककर बाहर चले गये। मगर बेगम साहबा की तक़रीर ज्यों की त्यों जारी रही, "इनसे तो बात करना मुश्किल है। दवा-दारू का ज़िक्र किया: बस वह दौड़ पड़े नीमवालों को बुलाने। पूछो, उनके पास रखा क्या है—हर्रे, बहेड़े और आँवले का चूरन। भला आदमी दुनिया-भर का तो परहेज़ बतलाता है। आलू और चावल बादी होते हैं, गोश्त और अण्डे गरमी करते हैं, दूध, दही और घी से कफ़ पैदा होता है। तब खाओ क्या सिर्फ़ मूँग की दाल और रोटी! तौबा-तौबा! अच्छा भला आदमी भी दस-पाँच रोज़ बँधकर खाये तो बीमार पड़ जाये। मगर वह तो नीमवालों के मुरीद हैं। और इन डॉक्टरों से तो खुदा बचाये। बदमाश दोनों हाथों से लूटते हैं। नब्ज़ देखने की तमीज़ नहीं है, आँखें बताओ, जीभ दिखाओ, बस बीमारी

की शिकायत दूर हो गयी। अब लाओ दो रुपये फ़ीस के, आठ आने ताँगे के और छह आने तीन खुराक दवा के। और इन सबके एवज़ मिलेगा क्या ? ज़हर का घूँट। दिन-भर मुँह कड़ुआ रहे और थू-थू करते बीते। अलबत्तह वैद्य-हकीम ऐसे डाके नहीं डालते। बेचारे एक रुपया फ़ीस लेते हैं। और दवा मुफ़्त देते हैं। सच है, दुनिया में मुफ़्ती चीज़ की क़दर नहीं होती। क्यों सिकन्दर, तुम तो कभी-कभी नीमवालों के यहाँ जाती हो ? कैसी चलती है उसकी वैदक। बहुत मरीज़ आते हैं ? हैं भी तो बेचारे बहुत शरीफ़ और तजुरबेकार। नब्ज़ की जाँच तो इतनी अच्छी करते हैं कि वाह ! तीन-चार साल हुए, मैं मलेरिया में सख्त बीमार हो गयी थी। उन्हीं की दवा से सेहत पायी थी।

अरे तो तुम बातें सुन रही हो या कुछ काम कर रही हो ? अबतक आग भी नहीं सुलगी। इस फू-फू के क्या मानी ? बोतल उठाओ, थोड़ा-सा तेल छिड़क दो और दियासलाई रगड़कर फेंक दो। अभी भक से जल उठेगी। जल्दी करो मेरी बहन जल्दी। बस ठीक है। अब पतीली चढ़ा दो। और हाँ, अभी चाय न छोड़ देना। पहले अदरक के पतले-पतले कतले डाल दो और खूब उबलने दो। क्या कहा—अदरक नहीं है ? तो अल्लाह ने ये बड़े-बड़े दीदे किस लिए दिये हैं। इनसे तलाश करो। अरे हाँ, खूब याद आया, अदरक तुम्हें मिलेगी कहाँ से, वह तो आलुओंवाली उस टोकरी में पड़ी है—आलुओं के नीचे। अब तुम अदरक लेने गयीं तो वहीं की हो रहीं। बुआ, तुम्हारे माफ़िक काहिल शायद ही कोई हो। यह क्या कर रही हो ? नहीं-नहीं, कतले की ज़रूरत नहीं है। कुचलकर डालो। इससे अर्क़ खूब उतर आयेगा, जुकाम के लिए अदरक का अर्क़ बहुत मुफ़ीद होता है। न हो, तो दस-पाँच लौंग भी छोड़ दो। मगर चाय में दूध और शक्कर ज़रा ज़्यादा डालना। दूध कितना है, आध सेर न ? बस तो पाव-भर डाल देना। और सुनो, दो अण्डों की टिकिया भी बना लो। प्याज ज़रा महीन कतरना, और नमक-मिर्च खूब बारीक पीसना। तबतक मैं हाथ-मुँह धोये डालती हूँ।"

जिस समय बेगम साहबा ग़ुसलख़ाने से बाहर आयीं, पतीली पर भाप के बादल मँडरा रहे थे, और सिकन्दर सिल पर लोढ़ा रगड़ रही थी। बेगम साहबा ने उससे कहा—"चाय तैयार हो गयी ? अण्डों में प्याज मिला दी गयी है या खाली नमक-मिर्च पर ही जोर आज़मा रही हो ? क्या कहा—अभी तो अदरक ही उबल रहा है ? ऐ वाह ! तो अदरक न हुआ, बुड्ढी बकरी का गोश्त हो गया। बुआ, तुम्हारे किये कभी कोई काम हुआ है, या आज ही होगा ? ख़ुदा ने नाहक़ तुम्हें इनसान का जिस्म दिया। उमर तो तुम्हारी तीस से ऊपर होगी, मगर तुम्हें चाय बनाने का भी शऊर न आया। बुरा मानने की ज़रूरत नहीं है। 'खाने को रोटी दस-बारा, काम करने को नन्हा बेचारा' वाले मज़मून से मुझे सख्त नफ़रत है। वह वैद्य को लेकर आ रहे होंगे और यहाँ चाय भी तैयार नहीं है। वाह ! क्या ख़ूब ! ऐ ख़ुदा की नेक बन्दी, मैं क्या कह रही हूँ !—तुम्हारी समझ में कुछ आता है या नहीं। नमक-मिर्च का पीछा छोड़ो। चाय कैटली में भर दो, दूध अंगारों पर रख दो, जबतक वह गरम होता है, मैं प्याले और तश्तरियाँ साफ़ करती हूँ। प्याज कतरकर रख दी होती तो मैं ही अण्डों में मिला देती। खैर अब कतर डालो। अरे, पानदान में तो डलियाँ हैं ही नहीं, अरे चुनेटी भी साफ़ है। बुआ, लपककर ज़रा-सा चूना दे जाओ और पाँच-छह डलियाँ भी लेती आओ। ऐसी बुरी लत पड़ गयी है कि हाथ-मुँह धोने पर जबतक दो बीड़े न खा लूँ, चैन नहीं पड़ती। ए लो, अब तुम्हें डलियाँ नहीं मिलतीं ? वह क्या रखी हैं उस गरम मसालेवाले डिब्बे के पास। ऐ बुआ, तुमसे कौन काम करने को कहे ? चूना लेने क्या गयी, सात-समुन्दर पार करने लगी। अफ़सोस, पैसे-भर चूना लाने में इतनी देर ? एक घण्टे में चूना लेकर लौटीं। तुम्हें तो बस बहाना चाहिए। ज़रा-सा काम बतला दो, हमारी सिकन्दर बुआ, घण्टे-दो घण्टे उसी से उलझी रहेंगी। अरे भई, जो काम तुमको न करना हुआ, कह दिया करो। लो वह आ गये। मेरी अच्छी बुआ, जल्दी से झाड़ू फेरकर वह दरी बिछा दो। नौ बजने को आये और घर अबतक

नहीं झड़ा। वैद्यजी मन में क्या कहेंगे। इसी से तो मुसलमान बदनाम हैं। मगर जहाँ बीमारी हो, वहाँ सफ़ाई अच्छी तरह हो भी तो नहीं सकती। रहने भी दो, इतनी होशियारी की ज़रूरत नहीं। हिन्दुओं में ही कहाँ की ऐसी सफ़ाई रहती है? पण्डित की नौकरानी बतलाती थी कि उनका घर हमारे घर से भी बदतर रहता है। बस अब जल्दी से दरी बिछा दो। और उनको भीतर बुला दो। बेचारे तब से बाहर खड़े हैं।"

वैद्यजी नब्ज़ टटोलकर बोले—"सर्दी की शिकायत है। बुख़ार भी है, मगर बहुत ख़फ़ीफ़। हाँ, सुस्ती अलबत्तह ज़्यादा है। आरामतलब आदमी सुस्त हुआ ही चाहे। अगर ये थोड़ी मेहनत-मशक़्क़त करें तो तमाम शिकायतें काफ़ूर हो जायें। खैर, मैं तीन दिन के लिए दवाई देता हूँ। तबीयत ठीक हो जायेगी। मगर सर्द और बादी चीज़ों से बचाव करना पड़ेगा। दवा शहद के साथ ली जायेगी। भुना हुआ सुहागा मिला लेने से और भी अच्छा होगा—दाने-भर काफ़ी रहेगा। हाँ, लौंग का तो मुझे खयाल ही न रहा, एक-दो भूनकर मिला लेना।"

वैद्यजी तो दवा का अनुपान बताकर और फ़ीस गाँठकर लम्बे हुए, पर मियाँ रहमत और सिकन्दर पर एक साथ क़यामत बरपा होने लगी। वह इस तरह कि सिकन्दर ज्यों ही बेगम साहबा के पास से हटकर बावरचीख़ाने में पहुँची, बिल्ली वहाँ से बाहर की तरफ़ भागी। बेगम साहबा बेताब हो गयीं। पहुँचीं लपककर बावरचीख़ाने में तो देखती क्या हैं कि दूध चौके में नदी-नालों की शकलें बना रहा है और अण्डों का प्याला उलटा पड़ा है। उनके जिस्म में एड़ी से चोटी तक आग धधक उठी। दाँत पीसकर बोलीं—"यह किस जनम के बदले चुका रही हो बीबी। मैं तो भला वैद्यजी को हाथ दिखला रही थी, तुम वहाँ भात-दालमें मूसलचन्द बनने क्यों पहुँचीं? अगर तुम्हारे यही लच्छन रहे तो एक दिन दिवाला ही पीट जायेगा। जी हाँ, कोई क़सूर नही है आपका! आप नेक ख़सलत ही ऐसी हैं कि आप से क़सूर हो ही नहीं सकता। क़सूर तो मेरा है बीबी, जो वैद्यजी को नब्ज़ दिखलाने बैठ गयी और बावरचीख़ाने के

दरवाजे को बन्द करने का खयाल न रखा। सोचा था कि अदरक की चाय पीयेंगे, अण्डे की टिकिया खायेंगे, तो तबीयत कुछ हलकी हो जायेगी। मगर तुम्हें यह बात पसन्द कहाँ ? तुम तो अपने ही मन की करोगी। तुमसे तो बुआ, मेरा जी खट्टा हो गया। गो उमर में तुमसे छोटी हूँ, मगर तुम्हें तोते की तरह पढ़ाया करती हूँ। पर वाह! सिकन्दर बुआ हैं कि चिकने घड़े का पानी। एक कान से बात सुनी, दूसरे कान से निकालकर बाहर की। ऐ कहाँ गये, कुछ सुना तुमने ? अब हमारी सिकन्दर बुआ धन्नासेठ हैं। कहती हैं कि दूध और अण्डों के पैसे हमारी तनख्वाह से काट लेना। बस बीवी, बस अब चुप ही रहो! तुम्हें ज़रा भी ग़ैरत मालूम नहीं होती। चुल्लू-भर पानी में डूब मरो। क़सूर का क़सूर करो और ऊपर के ज़बान लड़ाने की जुर्रत। मैं तो तुम्हारी उमर का लिहाज़ करती हूँ, और तुम सिर चढ़ी जा रही हो। आइन्दह इस तरह की ज़बाँ-दराज़ी की, तो याद रखना मेरा मिज़ाज बुरा है, सब लिहाज़-विहाज धरा रहेगा। बस, अब खड़ी ही रहो और काम—"

मियाँ रहमत ने कहा—"अरे! तो इस परेशानी से अब क्या फ़ायदा ? चार ही पैसे का दूध गया है, या और कुछ! ख्वाहमख्वाह बेचारी की जान चीथ रही हो।"

बेगम साहबा तिनककर बोलीं—"ऐ वाह, तो मैं इनसान नहीं, बिल्ली हूँ, क्यों ? लो सिकन्दर, खुशियाँ मनाओ, आज से तुम आज़ाद हो। कान पकड़े बीबो, जो आइन्दह तुमसे कुछ कहूँ। जब यह शह देते हैं, तो मेरी ही जूतियों को क्या गरज़ पड़ी है जो फ़िक्र में घुल-घुलकर मरूँ। मगर मियाँ, एक बात कहे देती हूँ, गाँठ में बाँध लेना। यह दुनिया है। यहाँ हमेशा सीधे का मुँह कुत्ते चाटा करते हैं। यही सिकन्दर कल को अलग की जायेगी, तो घर-घर तुम्हारे दुखड़े गाती फिरेगी।

"और हाँ, वैद्य को क्या सिखला लाये थे ? तुम्हारी ये बातें! इसी को कहते हैं, मुँह में राम बग़ल में छूरा। अगर सिखला नहीं लाये थे तो उनकी नसीहत का मतलब क्या था ? उसे मालूम कैसे हुआ कि मैं मेहनत-

मशक़्क़त नहीं करती ! अगर मैं मेहनत-मशक़्क़त नहीं करती तो तुम्हारी यह घर-गिरस्ती कौन सँभाल जाता है ? मियाँ, मैं हाथ-पैर न चलाऊँ तो दो रोटियों के लिए तरसकर रह जाओ। मगर नहीं, तुम ग़ैरों के सामने मेरी ग़ीबत करो, यही तो आजकल शरीफ़ज़ादों के काम रह गये हैं।"

यह कहकर बेगम साहबा पलंग पर जा गिरीं और मुँह फेरकर पड़ रहीं। पाँच मिनट तक सन्नाटा छाया रहा। यह चहकता हुआ मकान गोया वीरान-सा हो गया। मियाँ रहमत ने सोचा यह तो बुरा हुआ। चिड़िया रूठ गयी। वह चहके, उसकी चहक से मकान गूँजे, तभी तो बहार है। आखिर लोग चिड़ियों को पालते किसलिए हैं ? इसीलिए न कि आँखें उनकी सलोनी सूरत देखें और कान उनकी मीठी आवाज़ सुनें। बस, उन्होंने सिकन्दर से कहा—"यही तो तुममें बड़ा ऐब है सिकन्दर, जो तुम उनका कहना नहीं मानती। तुम्हें सोचना चाहिए कि वह इस घर की सरकार हैं, हमारी सरकार हैं, तुम्हारी सरकार हैं। फिर क्या वजह है कि तुम उनकी बातों को कानों पर उड़ाओ। जो कहो कि वह हमेशा नाराज़ हुआ करती हैं, तो तुम्हें इसका ख़याल न करना चाहिए। देखती नहीं कि वह जब-तब तो बीमार बनी रहती हैं, और बीमार आदमी के मिज़ाज में चिड़चिड़ापन होना ताज्जुब की बात नहीं है। वैद्यजी कब के चले गये, मगर तुमने उनको दवा खिलाने का ख़याल किया ? जाओ, लपककर दो पैसे की शहद ले आओ। वह अलमुनियमवाली कटोरी ले लो, यह लो इकन्नी, और हाँ, एक पैसे का अच्छा-सा सुहागा भी लेती आना।"

बेगम साहबा उसी तरह पड़ी हुई ज़रा कड़ी आवाज़ में बोलीं—"दवाई खाती कौन निगोड़ी है ? कोई ज़रूरत नहीं है शहद-वहद की। मैं मरूँ, चाहे जिऊँ, मगर तुम लोग मिलकर मुझे जलाये जाओ। देखो तुम्हें क़सम है, कसर न करना।"

मगर जब सिकन्दर कटोरी लेकर चलने लगी, तो बेगम साहबा से

न रहा गया, वह उठकर बैठ ही गयीं और कहने लगीं—"बुआ, मैंने क्या कहा—सुना नहीं तुमने ? जब मुझे दवा खानी ही नहीं है तब तुम शहद लेने क्यों जाओ ? देखो, मैं जो बात कहा करूँ उसे चुपके से मान लिया करो। इस ज़िद्द के क्या मानी ? तो तुम शहद लेने जाओगी ही ? मानोगी नहीं ? अच्छी बात है, जाओ, मगर गुड़ का सीरा न ले आना। इन पंसारियों का एतबार न किया करो, मुए ईमान को ताक़ पर रखकर तो डण्डी पकड़ते हैं। सूँघकर और चखकर देख लेना, और साफ़ कह देना कि दवा के लिए है, अगर खराब निकला तो यही कटोरी खींचकर तेरे सर पर मारी जायेगी। मगर आना बुआ जल्दी, मैं तुम्हारी आदत जानती हूँ, जहाँ जाती हो, वहीं बातों के बग़ीचे लगाने लगती हो। तो अब सुन क्या रही हो, जाती क्यों नहीं ?"

सिकन्दर ने पीठ फेरी तो मियाँ रहमत बोले—"अभी तो दिन है हुज़ूर, उठ बैठिए न ?"

बेगम साहबा आँखों में आँसू भर बोलीं—"यहाँ जी जला जाता है तुम्हें मज़ाक़ सूझ रहा है। आज मालूम हुआ कि तुम्हारे पेट में दाँत हैं, वैद से मेरी बुराई की, और दमड़ी की नौकरानी के पीछे मोती-सी आब उतार ली। मेरा ही खून पियो, जो मुझसे बोलो।"

मियाँ रहमत बेगम साहबा के क़रीब पहुँचे और उनका हाथ पकड़कर बोले—"खून पीनेवाले कोई और होंगे, यहाँ तो पिलानेवाले हैं। तुम्हें मेरी क़सम, लो उठ तो बैठो फट से अल्लाह का नाम ले कर, और ग़ुस्से को थूक दो। न कुछ बात मगर मानिन्द बच्चों के मचलकर पड़ी रहीं ! ऐसा भी कोई करता है। नौकरानी के साथ इस तरह माथा-पच्ची करना तुम्हारी शान के खिलाफ़ है। इसीलिए उतनी बात मुँह से निकल गयी।"

पारा नीचे उतर आया, तो बेगम साहबा बावरचीखाने में पहुँचीं; वहाँ का नज़ारा देखा तो उनकी आग फिर भभक उठी, और बोलीं—"ग़ज़ब खुदा का ! नालायक़ ने तमाम दूध खाक में मिला दिया। चाय

तक नसीब न हुई। इस मुई से ख़ुदा समझे। बुआ तीस को तो पार कर चुकी हैं, मगर खोदती घास ही रहीं। अगर इनके भरोसे रही तो, इन्शाअल्लाह क़यामत तक तो खाना पकेगा नहीं। दिल में तो यही इरादा कर लिया है कि आज हज़रत भूखे ही दफ़्तर जायें! मगर फिर सोचा कि वहाँ दिन-भर टँगे रहेंगे, आँतें कुलहू अल्लाह पढ़ा करेंगी, तो रहम आ गया। अच्छा तो अब थोड़ा-सा आटा गूँध लूँ और दो पराठे सेंक दूँ! दस बजने में देर भी तो नहीं है। इन छोटे-छोटे दिनों ने अलग ही आफ़त कर रखी है। बीबी सिकन्दर तो ऐसी गयी कि आने का नाम भी नहीं लेती! पंसारी से रिश्ता जोड़ रही होगी, और क्या? इतने पर आप फ़रमाते हैं कि उससे माथा-पच्ची न किया करो! भला बताओ तो, अगर उसका यही हाल रहेगा, तो काम कैसे चलेगा। ज़रा लपककर देखो तो कि जिन्दा है मुई या अल्लाह को प्यारी हुई? मैंने आज सवेरे-सवेरे दवाई का ज़िक्र क्या छेड़ा, अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली। दस बज रहे हैं, और अभी न पराठे सिके हैं, न सालन तैयार है। अब मैं क्या-क्या करूँ, न हो दफ़्तर में बाज़ार से कुछ मँगाकर खा लेना।

अल्लाह खैर करे, हमारी सिकन्दर सही सलामत वापस तो आ गयी। ऐ बुआ, तुम तो ऐसी गयी कि लापता ही हो रही। शहद लाना क्या हुआ, लाहौर लादना हो गया। यहाँ मैंने आटा गूँध रखा है। तुम्हारे भरोसे रहती, तो कुछ न होता। अब खड़ी क्या हो, शहद उनको दे दो, वह दवा तैयार कर देंगे। और तुम यहाँ आओ। झट से कुछ आलू काट लो और मसाला पीस डालो। कड़ाही मुझे दे दो, तबतक मैं पराठे सेंकती हूँ। अभी दम-भर में खाना तैयार होता है। ऐं, कड़ाही मँजी नहीं है? तब तो पक चुका खाना, और खा चुके वह। ऐ बीबी, अब तुमसे क्या कहूँ? जब तुमसे कड़ाही भी नहीं मँज सकती तब तुम हो किस मर्ज़ की दवा? इनसान का काम प्यारा होता है न कि चाम। मुई देर पर देर हुई जाती है। जल्दी करो बीबी, जल्दी करो। कड़ाही माँजने में बरसों नहीं लगती तबतक मैं दवाई ही ले लूँ।"

मियाँ रहमत पत्थर पर खट-खट कर रहे थे। बेगम साहबा आकर बोलीं—"यह तुम दवाई तैयार कर रहे हो कि खेल कर रहे हो? होशियारी बघारेंगे दुनिया-भर की और एक गोली पीसते बनती नहीं। लाओ मुझे दो। तुम लौंग और सुहागा भून लो। सुहागा ज़रा होशियारी से भूनना। एक बड़े-से अंगारे पर छोटी-सी डली रख देना। जब मानिन्द बताशे के फूल जाये, उठा लेना।"

"जी सरकार," कहते हुए मियाँ रहमत चले तो कटोरी उनके पाजामे के पाँयचे में उलझ गयी और सारा शहद ज़मीन पर जा रहा। बेगम साहबा हाथ मलकर बोलीं—"हाय री क़िस्मत, सिकन्दर की बदौलत चाय और अण्डों से हाथ धोया, एक दवाई बच रही थी, वह भी इन्होंने न लेने दी। बैठे-बिठाये एक रुपये का खून हो गया।"

मियाँ रहमत ने कहा—"तुम्हारी होशियारी के मारे तो नाक में दम है। मज़े से दवा तैयार कर रहा था। बीच में तुम्हारे कूद पड़ने की क्या ज़रूरत थी? अच्छा-भला पाजामा खराब हो गया।"

बेगम साहबा चिढ़कर बोलीं—"तो मैंने तुमसे कह दिया था कि कटोरी से उलझ पड़ो? ग़लती करेंगे आप, और क़सूर थोपेंगे दूसरे के सर। इतना बड़ा तो मकान, पर आपको देखिए—कभी किवाड़ों से भिड़ रहे हैं, कभी खूँटियों से टकरा रहे हैं।"

मियाँ रहमत मुसकराकर बोले—"हाँ, यह तो सच है। मगर इसमें मेरा क्या क़सूर, तुम्हें देखता हूँ, तो यहाँ कच्चे घड़े की चढ़ जाती है।"

"जी हाँ, बड़े वह हैं आप", कहती हुई बेगम साहबा भी मुसकरा दीं। फिर धीरे-धीरे बावरचीखाने में पहुँचीं और बोलीं—"माँज लायी बुआ कड़ाही? अच्छा, तो अब चूल्हे पर चढ़ा दो, और वह घीवाली डेगची उठाओ। जबतक मैं पराठे सेंकती हूँ, तबतक तुम मसाला तैयार कर रखो। अरे, तुम तो कपड़े पहनने लगे। क्या कहा—दस बज चुके?

इतनी जल्दी। अच्छी तुम्हारी घड़ी है! तो क्या भूखे ही चले जाओगे? यह भी कोई बात है। खाना तैयार है, खाकर जाओ। पराठे सिक ही रहे हैं, सिर्फ़ सालन तैयार होना है। दम-भर में सब हुआ जाता है। बुआ, जल्दी करो जल्दी। तुम्हारी ही बदौलत आज यह देर हुई। मेरी तबीयत अच्छी होती तो कब का खाना पक गया होता। मैं तो चुटकी बजाते कुल काम करती हूँ। तुम्हारी माफ़िक़ रो-रोकर काम करूँ, तो यह घर-गिरस्ती कुल धूल में मिल जाये। आखिर अल्लाह ने हाथ-पैर क्यों दिये हैं। काम करने के लिए ही या और कुछ मसाला पिस तो चुका है। अब झट से पतीली और घी लाओ; तो लगे हाथ आलू भी बघार दूँ।

"ऐ लो वह तो कपड़े पहनकर तैयार हो गये। खुदा के वास्ते ज़रा ठहर जाओ। अब तुम्हें कौन समझाये कि खाना पकाना, कुछ हथेली पर सरसों जमाना तो है नहीं। हाँ, मैं बेकार बैठी होती तो तुम अलबत्तह शिकायत कर सकते थे। चूल्हे से सर मारना कैसी मुसीबत है, यह तुम मरद क्या जानो। तुम्हें क्या, खाना सामने आया, लम्बे-लम्बे हाथ फटकारे, मूंछों पर ताव दिया और रफ़ूचक्कर हुए। एक दिन दस मिनट की देर हुई, तो कुछ हरज हो जायेगा। ऐसा डर है तुम्हें सुपरडण्ट का? सुपरडण्ट न हुआ, कहीं की तोप हो गया। क्या उस निगोंड़े के बाल-बच्चे नहीं हैं। ऐ सिकन्दर, तुम्हारे काम से मैं आजिज़ आ गयी। अब घण्टे-भर से पतीली ही धुल रही है।"

यह कहते-कहते बेगम साहबा ने जो पराठा उलटा, तो उनकी उँगलियाँ जल गयीं। बेचारी आँखों में आँसू भर बाहर निकल आयीं और चीखकर बोलीं—"लो हो गयी तुम्हारे मन की। तीन घण्टे से हाथ जोड़ रही हूँ। जल्दी का काम शैतान होता है। मगर तुम क्यों मानने लगे? खुदा जाने, आज सवेरे-सवेरे किसका मुँह देखकर उठी थी। सिकन्दर ने दूध और अण्डों पर बत्ती रखी, वैद्यजी आये तो एक रुपया झटक ले गये, तुमने शहद पर ठोकर जमायी और इन मुए पराठों ने तो जान ही ले डाली।"

"हाँ, खूब याद आया। आज सुबह तुम्हारा मुँह आइने की तरफ़ था। इसी से कहा करता हूँ कि आइने की तरफ़ मुँह करके न सोया करो पर तुम कहाँ मानती हो ?" यह कहते-कहते मियाँ रहमत जूते पहनकर बाहर हो गये।

□ □

अमृतलाल नागर

डाँगडर मूँगाराम

□

"जै रामजी की लाला !'

सेठ हड़वड़ाकर वोले—"अरे लाला मूलचन्द ! मैं अभी तुम्हारी याद ही कर रह्या था। मैंने कही, लाला मूलचन्द ने भौत दिनों से दरसन नहीं दीना। क्या वात है, कुछ खफा तो नहीं हो गये हमसे ?"

मैं दूकान के अन्दर खिसक गया। लाला मूलचन्द पटरी में आराम से वैठते हुए ज़रा कुछ हँसकर वोले—"नई, नई, जे भी कोई वात है ? तुमसे खफा होके कोई भला आगरे में रै कैसे सके हैं ?"

"नई, खैर ये तो म्हैरवानगी है तुम्हारी, पर मैं तो ये ही समझा था। बल्के मैंने अभी लल्लूजी से कही भी थी कि सबेरे जाके लाला मूलचन्द से पूछियो भई, क्या खपगी है हम पै जो कि भौत दिनों से हमारी दुकान से कुछ भी सौदा नई हुआ। मुझे तो बड़ा फिकर हो गया, तुम्हारी कसम। खैर, सौदे की तो वात नहीं, ये तो बिजनिस है, पर दिल तो साले मिले रहने चाहिए। है के नहीं ?'

"नई-नई, लाला वाँकेमलजी। ऐसा कहीं हो सके। वो कुछ ऐसे गिरह चक्कर में फँस गया मैं, के सारी सहालग ससुरी सुलफा हो गयी। इस साल सोची थी कि हजार वारै सौ वना लूँगा, तो साला ये पीलिया खा गया मुझे।"

लाला मूलचन्द कुछ दम तोड़ के वैठ गये। सेठ वाँकेमल आवाज़ में कुछ घबराहट पैदा करके बोले—"है ! पीलिया हो गया था तुम्हें ! हाँ भई, झटक तो भौत रहे हो। म्हौं तुम्हारा एकदम फौक्स दीखे है। बल्के मैं तो अभी ये पूछने ही वाला था कि मूलचन्द, ये क्या हो गया है तुम्हें ?

पीलिया भी सुसरी बड़ी खुसकैट बीमारी होवै है साव ? पर तुमने भी ये सुसरी कहाँ की बुलबुल पाल रखी है ? अरे इलाज-फिलाज कराके खुसकैट करो ससुरी को। क्या समझे ? एँ ?"

"हाँ लाला, इलाज तो करा रह्या हूँ। डाँग्डर मेवालाल का हो रह्या है आजकल।"

"ये कौन मेवालाल फेवालाल हैं ! अरे किसी भले आदमी से करावो।"

"नहीं लाला, ऐसी भी क्या कहो हो ? अरे वो ऐम. बी. ऐस. है— लखनऊ का।"

"भला ! लखनऊ का ऐम. बी. ऐस. है तो तो साब आदमी काबल दीखे है।"

"अरे लाला काबल क्या, विसकी तो बड़ी चले है आजकल। बड़ी धूम है विसकी आगरे में। और इलाज भी बड़ा अच्छा करे है। अब देखो, विसकी दवा से मुझे भौत फायदा पौंच रह्या है।"

सेठ बाँकेमल ने गम्भीरतापूर्वक एक बार लाला मूलचन्द को अच्छी तरह देखा। फिर सिर हिलाकर बोले—"हाँ ज़रा चेतना आ तो गयी है च्हैरे पर। बस इसीका इलाज करे जाओ तुम तो। क्या समझे ? काबल आदमी है साब, ये डाँग्डर मेवालाल। बड़ा नामी है। चौबेजी भी तारीफ़ कर करे थे इसकी।"

लाला मूलचन्द हुमसकर बोले—"तारीफ की बात ही है लाला। मरज की पहचान विसकी ऐसी जबरजस्त है कि क्या कोई करेगा।"

सेठ बाँकेमल ने खट से ताव खाकर हाथ आगे की ओर बढ़ाते हुए कहा—"अब ये मती कहो तुम लाला मूलचन्द समझे ! डाँग्डर मूँगाराम के मुकाबले में मरज की सिनाख करनेवाला आजतक कोई पिरथी पै पैदा ही नहीं हुआ। तुम ये कल के लौंडे ससुरे मेवालाल को लिये घूमो हो।"

पलट पड़े मेरी ओर फिर—

"भैयो, मूँगाराम डाँग्डर ऐसा गजब का था कि एक बार लाट साहब की मेमसाब को छींकें आने लगीं ससुरी। वो जागे तो छींके और सोये तो

छींके—छिन-छिन में ऐसी छींकें ससुरी की कै महीने में लाटनी साली खुसकैट हो गयी। बड़ा घबड़ाया साब लाट भी कि क्या होगा। इलाज भी कोई मामूली नई भया भैयो! आखर वो लाट ही ठहरा साब। म्हराज विलायत से और लन्दन से और जर्मन से, अमरीका, अफरीका, चीन और सारी दुनिया तक के डाँग्डर ही डाँग्डर बुलवा लीने विस्ने। खाली बस, एक जापान को छोड़ दीना। विस्नें कही कि जापानी माल साला यों ही सस्ता होवै है। क्या अच्छा कर सकेगा वहाँ का डाँग्डर मेरी मेम साब को। पर वहाँ सस्ते मद्दे का सवाल नहीं। कोई साला अच्छा ही न कर सका भैयो। बड़ी दवाइयाँ पिलायीं, बड़े-बड़े आले लगवाये पर साली छींक बन्द ही न होवे। अन्त में भैया, मेम ससुरी लाट साब से लिपट के बोली कि माई डियर, मुझे गोली से मार दो। छींकों सालियों ने तो मुझे फौक्स कर दिया है। लाट भी साला रोने लगा भैयो। अब तू ही बता मेरा प्यारा और कर ही क्या सके थी! खैर! विस्ने फिर बड़े-बड़े सिविल सारजेण्ट को बुलाये। वो भी खुसकैट हो के लौट गये। फिर विसे किसी ने खबर दीनी कि हजूर, आगरे में मूँगाराम डाँग्डर रहवे हैं, बड़े नामी गिरामी। न हो तो विन्हें भी एक बार बुलाके दीखला दो मेम साब को। लाट साब ने भैयो, खट्ट देनी तार और रेडियो कर दीना कि मूँगाराम डाँग्डर को भेजो।

पौंचे साब मूँगाराम! जाते ही लाटनी की नाक पकड़ी। दो मिनट देख-भाल के मूँगाराम कही: जरा एक कैंची मँगा सको हो आप! लाटनी ससुरी खुसकेट हो गई भैयो। विन्ने कही कहीं नाक तो नहीं काटेगा ये मेरी। और लाट साब भी भैयो, ये ही सोचे कि जो नाक कट गयी तो ये नकटी मेम साली को लिये-लिये कहाँ-कहाँ घूमूँगा। समझ गया मेरा गैंडा भैयो। विस्ने हँस के कही—मिस्टर लाट साब, आप घबड़ाओ मती। बस जरा एक कैंची मँगवा दो खट्ट देनी। लाट का घर भैयो, कैंची आते ही कित्ती देर लगे हो—ससुरी कैंचियाँ ही कैंचिया आ गयीं। मूँगाराम ने क्या कीना भैयो, कि नाक में कैंची डाल के एक बाल खैंच लीना और सबको दिखा के कही—ये लो साब, ये छींक निकल आयी। बात ऐसी

थी कि ये साँस लेवे थीं तो बाल भी ऊपर को चढ़े था इसी से ये छींकें आवे थीं ससुरी।

पुकार पड़ गयी भैयो, अरे बारे डाँग्डर मूँगाराम, क्या कहने हैं! सब इखबारों में विस्की फोटो छप गयी भैयो, और लाट साब ने मूँगाराम को पट्ट देनी रायबहादुर बना दीना।"

लाला मूलचन्द कुछ ऊवकर बोले—"बड़ा डाँग्डर था तो अलबत। पर चाहे जो कह लो, ये तो कुछ डाँग्डरी नहीं हुई लाला। ये तो हज्जामों का काम हुआ। नाक का बाल काट के फेक दीना, बस, इसमें कोई दवा-दारू विन्ने थोड़ी दीनी जो डाँग्डरी होती।"

"जरा सुनो तो, जरा इनकी बातें सुनो भैया, लाला मूलचन्द की। कहैवैं हैं, डाँग्डरी ही नइँ हुई ये। अरे तो बिनका मुकाबला क्या तुम्हारा ये दो कौड़ी का मेवालाल करेगा ससुरा खुसकैट? दुनिया-भर के डाँग्डर तो आके विस्के पैर छू गये। ह्याँ ताजबीवी के रोजे पर ससुरी गाडन पाल्टी कीनी—चाह और शराब और सोडा पिलाया म्हराज। और तुम कहो हो कि डाँग्डर ही नहीं था वो। यों कहो मूलचन्द कि गाहक भगवान् का रूप होवे है, नहीं तो म्हाराज—भैयो, मिश्टर मूँगाराम डाँग्डर राय-बहादुर, एक बार कलकत्ते तसरीप ले गये। कलकत्ता ससुरा बड़ा मुलक, छाजा-बाजा केस, यही बंगला देस क्रा। व्हाँ पै एक रहीस था ससुरा बंगाली मासा। अटक गयी साले के गले में कहीं मछली, रात-दिन हाय-हाय चीखे। मिश्टर मूँगाराम डाँग्डर ने जाते ही विसे तरकैट कर दीना।

अब ससुरा हुआ क्या भैया, कि म्हंई कलकत्ते में एक बंगालचा पानी के साथ कनखजूरा पी गया था। और कनखजूरा विसकी आँतों में चिपक के बैठ गया। हर घड़ी मजे में आँतों से मांस नोंच-नोंच के खाय और तरकैट बने साला। इधर वो बंगाली बाबू दिन पर दिन खुसकैट होता चला जाय। बड़े-बड़े इलाज कराये साब विस्ने, पर वो अच्छा ही न होवे। एक दिन विचारा बड़े बजार में खड़ा-खड़ा रो रहा था। इत्ते में मिस्टर मूँगाराम डाँग्डर टमटम पै सैर करने को निकले। किसी ने बता

दीना कि मूँगाराम जा रहे हैं। वैसै हाँ फीस तो इन्हों की बड़ी डबल है पर मिनटों में चंगा कर सके हैं। बंगाली बाबू गरीब हो गया था इसी बीमारी के पीछे, विसके पास फीस के रूपे कहाँ थे। पर विसे भी साले को जाने क्या सूझी कि आव देखा न ताव, खट्ट देनी जा के विन्हों की टमटम के अगाड़ी लेट गया। सहीस ने घबड़ा के रास खैंची और विसे डाँट के कही कि अबे, क्यों जान दे रहा है, खुसकैंट! पर वो माने ही नहीं। बोला : 'अब तो डाँग्डर मूँगाराम ही मेरी बाँह पकड़े तो उठ सकूँ हूँ, नहीं तो मर तो रह्या ही हूँ। बड़ी भीड़ें जमा हो गयी थीं चारों तरफ। डाँग्डर मूँगाराम साब टमटम से उतरे भैयो। विन्ने कही, क्यों भई क्या बात है ?

बंगाली बाबू ने खट्ट से विनके पैर पकड़ लीने और हाथ जोड़ के कहीं—'यों यों हाल है मेरा ग़रीब परवर कि आज छै महीने हो गये, क्या हो गया है, मेरे पेट में जैसे आरी चले है दिन-रात, और मैं तड़पूँ हूँ साब इसी में। बाप-दादों की जो कुछ थोड़ी-भौत पूँजी थी सो सब साली इसी बीमारी में फौक्स कर दीनी। पर कुछ भी नहीं हुआ। साब मैं तो मर रह्या हूँ।"

ये कहके वो रोने लगा, भैयो !

मूँगाराम ने कही—"तो फिर अस्पताल जाओ।"

विस्ने कही कि सारी दुनिया तो दौड़ आया साब। अब तो आपी की सरन में हूँ। कहो तो जिन्दा रहूँ कहो तो मर जाऊँ।

चार आदमी और विसकी सिपारस करने लगे कि हजूर, आपका जस गायेगा। दया कर दो इस पै। बिचारा बड़ा दुखी रहवे है।

डाँग्डर मूँगाराम को भैयो, कुछ दया आ गयी। अरे हाँ, विन्ने सोची भैयो, हजारों अमीरों-रहीसों से लाखों-करोड़ों कमाऊँ हूँ, एक को यों ही सही। जबतक जिएगा जस गायेगा। ये सोच के विन्ने कही, अच्छा, छिपकली लाओ पकड़ के और एक गोस्त की गोली।

फौरन साब दौड़ के गया और दोनों चीज़ें ला के हाजर कीनी। अब

मूँगाराम ने विस बंगाली की आँखों में पट्टी बँधवायी। फिर बिससे कही अच्छा, अब तू नेक म्हों फाड़ दे। विन्ने साब गप्प देनी म्हों फाड़ दीना।

मूँगाराम डाँग्डर ने क्या करी कि वो गोस्त की गोली जो थी सो विसके म्हों में रख दीनी और छिपकली म्हाराज अपना सिकार लेने लपकी और फट्ट देनी पेट के अन्दर। तिलमिला गया भैयो बंगालचा साला। और चार आदमी भी हाहाकार मचा उठे कि अरे, ये क्या कीना मूँगाराम डाँग्डर ने, विसके पेट में छिपकली उतार दीनी। अब इत्ते में क्या हुआ भैयो, कि छिपकली ने आँतों में पौंच के ससुरे कनखजूरे को पकड़ा। बड़ा जोर लगाया साब विस्ने—महीनों से चिपका हुआ था साला, छोड़े ही नहीं।—अन्त में साब छिपकली ने भी जोर लगाया और विसे खैंच के म्हों में रख लीनी। दरद के मारे बंगाली मासा बेहोस होके गिर पड़ा साला। लोगों ने समझी कि मर गया। सब लोग मूँगाराम डाँग्डर को घेर के खड़े हो गये और कहने लगे, तुम मूँगाराम डाँग्डर होगे तो साले अपने घर के होगे। तुमने हमारे बंगाली मासा को मार क्यों डाला? मूँगाराम ने डाँट के कही—नेक खड़े रहो, अभी देखो क्या होवे है। इत्ते में साब वो छिपकली जो थी सो कनखजूरे को दबाये बंगाली बाबू के म्हों से बाहर कूदी।

मूँगाराम ने सबको दिखा के कही देखो, इसके पेट में कनखजूरा था, इसी कारन से यु खुसकैट हो रह्या था। समझे? अब ये छिपकली इसे निकाल लायी। जाओ फलानी दवाई ले आओ, दौड़ के। मैं अभी गैंडा बनाये दूँ साले को।

छिन-भर में दवाई पिला के साले को ऐसा तरकैट कर दीना कि साला लुप्प देनी खड़ा होके भूख-भूख चिल्लाने लगा। भूख बंगाली मसहूर होवे है भैयो—साले ने पसेरी-भर पूड़ियाँ खाके फिर गैंडे ऐसी डेकार लीनी।

तो ऐसे थे मूँगाराम डाँग्डर। रायबहादुर थे म्हराज। सिविल लैन पे कोठी है बिन्हो की। क्या समझे लाला मूलचन्द!"

लाला मूलचन्द डाँग्डर मूंगाराम से अब अच्छी तरह प्रभावित हो गये

दीखते थे, बोले—"हाँ-हाँ साव ! बड़े भारी डाँग्डर थे मूँगाराम। बड़े नाम थे विन्हों के। मैंने भी अपने लकड़पन में विनकी भौत धूम सुनी थी। और ये जो मेवालाल है न लाला, ये विन्हों का ही तो सागिरद है। दवा-खाने में फूलों का हार डाल के तस्वीर लटका रक्खी है मूँगाराम की।"

सेठ बाँकेमल को भी अब जैसे मेवालाल की योग्यता पर भरोसा हो गया, बोले, "हाँ-हाँ, साब कावल क्यों नहीं होगा। भलो जे भी कोई बात है। बड़े झण्डे गाड़ रखे हैं मेवालाल ने तो। आजकल अपने उस्ताद का इक्काल दूना कर रह्या है। गुरू गुड़ ही रह गये, चेला ससुरा सक्कर हुआ जाय है। हें हें हें!"

हँसते हुए सेठ पान लगाने बैठे। लाला मूलचन्द दुपट्टा सँभाल के पलथी बदलते हुए बोले—"और कहो लालाजी, कैसा बजार है आजकल। ये लड़ाई के कारन लोगबागों की जेवें साली फौक्स हो रही हैं। अबके सहालग भी कच्ची रही गुरू—आइए हुजूर। आइए साब कम-कम! सिट् डोन साब। अरे लल्लू साब के ताईं कुरसी रक्खो जल्दी से।"

लल्लू ने फ़ौरन ही कोठरी से दो लोहे की कुरसियाँ निकालकर रखीं। पंजाबी साहब और मेम साहब वहाँ बैठ गये।

□ □

कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब'

दाढ़ी और प्रेम

□

कभी आपने दाढ़ी बढ़ते देखा है ? अभी आज आपने सेवनोक्लाक से खूब चेहरे को सिमेण्ट की गच के समान रगड़कर चिकना बनाया। कल सवेरे कटे हुए अरहर के खेत के समान खूँटियाँ निकल आयीं। कब निकलीं, इसका पता नहीं। जिस प्रकार दाढ़ी का निकलना कोई नहीं देख सकता, अनायास किसी सचेतन भाव की जागृति के बिना नव विकसित कदम्ब के फूल के समान कच प्रस्फुटित हो जाता है; उसी प्रकार किसी तैयारी के बिना, किसी निर्देशक के बिना प्रेम उत्पन्न हो जाता है। कल दोपहर तक आप भले-चंगे थे। दिन को कढ़ी बनने के कारण एक रोटी अधिक भी खायी थी। लेटे भी अच्छी तरह थे, तीन बजे चाय पी, उसमें चीनी कम थी। इसका भी अनुभव आपको हुआ। सन्ध्या को बाहर से घूमकर आप आये, बैठे-बैठाये प्रेम हो गया। भूख ही नहीं है। बढ़िया कटहल की तरकारी बनी है, थाली में बाग़-बाज़ार के दो रसगुल्ले भी हैं, किन्तु एक पूरी से अधिक आप खा नहीं सके। आपको यह खयाल नहीं है कि कुरता आपने कहाँ उतारा और उसमें के पैसे गिर पड़े कि ज्यों के त्यों हैं। पहले तो आप हिन्दू जाति के समान चिन्तामुक्त होकर सोते थे। अब तो नींद ही नहीं आ रही है। कभी आप छत की कड़ियाँ गिनते हैं, कभी चादर की शिकन गिनते हैं, कभी अलजबरा के प्रश्न हल करने लगते हैं।

दाढ़ी और प्रेम में इतना ही साम्य नहीं है। आरम्भ में दाढ़ी काली रहती है। प्रेम भी यौवन में वासनापूर्ण होता है। यौवन प्रेम का अन्तिम ध्येय वासना के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। कम से कम पार्थिव प्रेम तो होता ही है ! कदाचित् शुक ऐसा कोई युवक संसार में हो जो प्रारम्भ

से ही दैहिक भोग-विलास की ओर दृष्टिपात न करता हो। इसलिए हमें दाढ़ी और प्रेम में बड़ी समता दिखाई देती है। और यह समता यहीं नहीं समाप्त होती। ज्यों-ज्यों दाढ़ी समय के पथ पर बढ़ती जाती है उसका कालापन दूर हो जाता है और कृष्णपक्ष समाप्त होकर शुक्लपक्ष के सुधाकर के समान उसमें प्रकाश की किरणें फूटती हैं। उसी प्रकार प्रेम पर भी ज्यों-ज्यों पुरातनपन की मुहर लगती जाती है, वह धुलता जाता है और लौकिक प्रेम से उठकर देश-प्रेम, विश्व-प्रेम भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख होता जाता है। प्रेम भी समय की गति पाकर उज्ज्वल हो उठता है। यदि वह क्षणिक वासना का ज्वर न हुआ तो जिस प्रकार, यौवन की झरबेरी की झाड़ी समान दाढ़ी प्रौढ़ावस्था में रेशम के लच्छे के समान कोमल हो जाती है उसी प्रकार प्रेम भी लौकिक धरातल से उठकर ईश्वरीय, नैसर्गिक बन जाता है।

कुछ ऐसा जान पड़ता है कि दाढ़ी रखनेवालों की ईश्वर से अधिक निकटता होती है। भक्ति (—जो प्रेम-रस की ही गाढ़ी चाशनी है—) और दाढ़ी का गहरा सम्बन्ध है। अच्छी दाढ़ी रखनेवाले भक्त जीव होते हैं। इसमें उन लोगों को छोड़ दीजिए जो शौक़िया दाढ़ी रखते हैं और उसे अनेक कोनों से अनेक रूपों में काट-छाँटकर ठीक करते हैं। बाबा नानक बड़े भक्त थे, इसमें किसको सन्देह हो सकता है? रविबाबू, सी. एफ़. एण्ड्रूज़, डॉक्टर भगवानदास की ईश्वर-भक्ति में किसको सन्देह हो सकता है? यह अनर्थ नहीं समझना चाहिए कि जो लोग दाढ़ी नहीं रखते वह भक्त नहीं होते। कहने का तात्पर्य यह है कि दाढ़ी और प्रेम में अवश्य घना सम्बन्ध है। जो लोग स्वाभाविक रूप से दाढ़ी रखते हैं वह स्वाभाविक भक्त भी होते हैं।

दाढ़ी और प्रेम में एक और सादृश्य है। दाढ़ी आज बना दीजिए, कल फिर मौजूद। उसी प्रकार प्रेम भी होता है। प्रेम नहीं मिट सकता। प्रेम की जड़ ज्यों-ज्यों काटिए वह नये सिरे से जमने लगता है। अँगरेज़ी में प्रेम को ईश्वर कहा गया है। ईसाई लोग कहा करते हैं 'गाड इज़ लव'।

इसलाम धर्म के माननेवाले कहा करते हैं कि दाढ़ी भी अल्लामियाँ की नूर है, ज्योति है। दाढ़ी अल्लामियाँ नहीं तो उसकी रोशनी ही सही। कुछ तो सही। इसीलिए यहाँ भी दाढ़ी प्रेम ही का स्वरूप हो गयी। स्त्रियों को दाढ़ी नहीं होती इसीलिए उनके प्रेम में चंचलता होती है।

इसके लिए कोई प्रमाण तो मैं नहीं दे सकता किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दाढ़ी रख लेने से हृदय का प्रेम बाहर निकल पड़ता है। यदि महात्मा गान्धी और श्रीयुत् जिना दाढ़ी रख लेते तो भारत की समस्या हल हो जाती। दोनों में प्रेम हो जाता। सारा झगड़ा मिट जाता। कुछ लोगों की धारणा है कि दाढ़ी इसलाम का प्रतीक है। यह धारणा मिथ्या है। राजा दशरथ और राजा जनक को तो दाढ़ियाँ थीं ही। जिन लोगों ने देखा है उनका कहना है कि ब्रह्मा को भी दाढ़ी है। इसलिए इसपर मुसलमानों का आधिपत्य नहीं हो सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि अधिक मुसलमान दाढ़ी रखते हैं इसलिए उनमें अधिक प्रेम है।

जिन लोगों को प्रेम में असफलता मिली हो वह दाढ़ी रखकर परीक्षा करें कि क्या होता है। बहुत सम्भव है कि उन्हें सफलता मिल जाये। दाढ़ी का इतना महत्त्व होते हुए किसी कवि ने प्रशंसा नहीं की। महाकाव्य तो क्या खण्डकाव्य भी नहीं, एक गीत नहीं, एक प्रगीत नहीं, एक सवैया या एक दोहा भी नहीं लिखा। इतने महत्त्व की वस्तु और विद्वानों द्वारा इतनी उपेक्षा! भ्रातृभाव के सिद्धान्तों के लिए शूली पर चढ़ जानेवाले ईसामसीह ने दाढ़ी रखी। इसी कारण वह इतने बड़े हो सके। बुद्ध का धर्म भारत में क्यों नहीं पनप सका, क्योंकि बोधिसत्त्व प्राप्त होने के पश्चात् ही उन्होंने पाटलिपुत्र से एक नाई बुलवाकर अपनी दाढ़ी बनवा ली। कुछ लोग कहेंगे कि संन्यासियों के लिए तो दाढ़ी वर्जित है। उन्हें तो संसार ही वर्जित है। मैं तो उन लोगों की बातें कर रहा हूँ जो संसार में रहते हैं, संसार के हैं। ऐसे पुरुषों के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं जिन्होंने दाढ़ी नहीं रखी किन्तु संसार में सफल हुए। सो तो सम्भव है। किन्तु दाढ़ी रखकर कोई असफल हुआ, ऐसा उदाहरण कहाँ मिलेगा।

यदि ऐसा कोई हो भी तो पहले यह देखना चाहिए कि उसकी दाढ़ी बनावटी तो नहीं है, या उसने ज़बरदस्ती तो दाढ़ी नहीं रख ली है। मन से नहीं रखी होगी। पता लगाइए। दाढ़ी बाल ही नहीं, बल है और सबल है।

□ □

भगवतीचरण वर्मा

मुग़लों ने सल्तनत बख़्श दी

□

हीरोजी को आप नहीं जानते, और यह दुर्भाग्य की बात है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल आपका दुर्भाग्य है, दुर्भाग्य हीरोजी का भी है। कारण ? वह बड़ा सीधा-सादा है। यदि आपका हीरोजी से परिचय हो जाये तो आप निश्चय समझ लेंगे कि आपका संसार के एक बहुत बड़े विद्वान् से परिचय हो गया है। हीरोजी को जाननेवालों में अधिकांश का मत यह है कि हीरोजी पहले जन्म में विक्रमादित्य के नव-रत्नों में एक अवश्य रहे होंगे और अपने किसी पाप के कारण उनको इस जन्म में हीरोजी की योनि प्राप्त हुई। अगर हीरोजी का आप से परिचय हो जाय, तो आप यह समझ लीजिए कि उन्हें एक मनुष्य अधिक मिल गया, जो उन्हें अपने शोक में प्रसन्नतापूर्वक हिस्सा दे सके।

हीरोजी ने दुनिया देखी है। यहाँ यह जान लेना ठीक होगा कि हीरोजी की दुनिया मौज और मस्ती की ही बनी है। शराबियों के साथ बैठकर उन्होंने शराब पीने की बाज़ी लगायी है और हरदम जीते हैं। अफ़ीम के आदी नहीं हैं पर अगर मिल जाये तो इतनी खा लेते हैं जितनी से एक खानदान का खानदान स्वर्ग की या नरक की यात्रा कर सके। भंग पीते हैं तबतक, जबतक उनका पेट न भर जाय। चरस और गाँजे के लोभ में साधु बनते-बनते बच गये। एक बार एक आदमी ने उन्हें संखिया खिला दी, इस आशा से कि संसार एक पापी के भार से मुक्त हो जाये, पर दूसरे ही दिन हीरोजी उसके यहाँ पहुँचे। हँसते हुए उन्होंने कहा, "यार कल का नशा नशा था। राम दुहाई, अगर आज भी वह नाश्ता करवा देते, तो तुम्हें आशीर्वाद देता।" लेकिन उस आदमी के पास संखिया

मौजूद न थी।

हीरोजी के दर्शन प्रायः चाय की दुकान में हुआ करते थे। जो पहुँचता है वह हीरोजी को एक प्याला चाय का अवश्य पिलाता है। उस दिन जब हम लोग चाय पीने पहुँचे तो हीरोजी एक कोने में आँखें बन्द किये हुए बैठे कुछ सोच रहे थे। हम लोगों में बातें शुरू हो गयीं और हरिजन आन्दोलन से घूमते-फिरते बात आ पहुँची दानवराज बलि पर। पण्डित गोवर्द्धन शास्त्री ने आमलेट का टुकड़ा मुँह में डालते हुए कहा—"भाई यह तो कलियुग है, न किसी में दीन है न ईमान। कौड़ी-कौड़ी पर लोग बेईमानी करने लग गये हैं। अरे, अब तो लिखकर भी लोग मुकर जाते हैं। एक युग था, जब दानव तक अपने वचन निभाते थे, सुरों और नरों की तो बातें ही छोड़ दीजिए। दानवराज ने वचनबद्ध होकर सारी पृथिवी दान कर दी थी। पृथिवी ही काहे को, स्वयं अपने को भी दान कर दिया था।"

हीरोजी चौंक उठे। खाँसकर उन्होंने कहा—"क्या बात है ? ज़रा फिर से तो कहना।"

सब लोग हीरोजी की ओर घूम पड़े। कोई नयी बात सुनने को मिलेगी इस आशा से मनोहर ने शास्त्रीजी के शब्दों को दोहराने का कष्ट उठाया—"हीरोजी, ये गोवर्द्धन शास्त्रीजी हैं सो कह रहे हैं कि कलियुग में धर्म-कर्म सब लोप हो जायेगा। त्रेता में तो दैत्य बलि तक ने अपना सब कुछ केवल वचनबद्ध होकर दान दिया था।"

हीरोजी हँस पड़े। "हाँ, तो यह गोवर्द्धन शास्त्री कहनेवाले हुए और तुम लोग सुननेवाले, ठीक ही है। लेकिन हमसे सुनो, यह तो कह रहे हैं त्रेता की बात। अरे, तब तो अकेले बलि ने ऐसा कर दिया था, लेकिन मैं कहता हूँ कलियुग की बात। कलियुग में तो एक आदमी की कही हुई बात को उसकी सात-आठ पीढ़ी तक निभाती गयी और यद्यपि वह पीढ़ी स्वयं नष्ट हो गयी, लेकिन उसने अपना वचन नहीं तोड़ा।

हम लोग आश्चर्य में आ गये। हीरोजी की बात समझ में नहीं आयी।

पूछना पड़ा—"हीरोजी, कलियुग में किसने इस प्रकार अपने वचनों का पालन किया ?"

"लौंडे हो न !" हीरोजी ने मुँह बनाते हुए कहा—"जानते हो मुग़लों की सल्तनत कैसे गयी ?"

"हाँ, अँगरेज़ों ने उनसे छीन लिया ।"

"तभी तो कहता हूँ कि तुम सब लोग लौंडे हो । स्कूली किताबों को रट-रट बन गये लिखे-पढ़े आदमी । अरे, मुग़लों ने अपनी सल्तनत अँगरेज़ों को बख्श दी ।"

हीरोजी ने यह कौन-सा नया इतिहास बताया ? आँखें कुछ अधिक खुल गयीं । कान खड़े हो गये । मैंने कहा—"सो कैसे ?"

"अच्छा तो फिर सुनो ।" हीरोजी ने आरम्भ किया—"जानते हो शाहन्शाह शाहजहाँ की लड़की शाहजादी रोशनआरा एक दफ़े बीमार पड़ी थी । और उसे एक अँगरेज़ डॉक्टर ने अच्छा किया था । उस डॉक्टर को शाहन्शाह शाहजहाँ ने तिजारत करने के लिए कलकत्ते में कोठी बनाने की इजाज़त दे दी थी ।"

"हाँ, यह तो हम लोगों ने पढ़ा है ।"

"लेकिन असल बात यह है कि शाहज़ादी रोशनआरा—वही शाहन्शाह शाहजहाँ की लड़की—हाँ, वही शाहज़ादी रोशनआरा एक दफ़े जल गयी । अधिक नहीं जली थी । अरे हाथ में थोड़ा-सा जल गयी थी, लेकिन जल तो गयी थी, और ठहरी शाहज़ादी । बड़े-बड़े हकीम और वैद्य बुलाये गये । इलाज किया गया, लेकिन शाहज़ादी को अच्छा कौन कर सकता था ? सो कोई न कर सका—न कर सका । वह शाहज़ादी थी न ! सब लोग लगाते थे लेप, और लेप लगने से होती थी जलन । और तुरन्त शाहज़ादी धुलवा डालती उस लेप को । भला शाहज़ादी को रोकनेवाला कौन था । अब वहाँ तो दवा असर करने ही न पाती थी ।

उन्हीं दिनों एक अँगरेज़ घूमता-घामता दिल्ली आया । दुनिया देखे हुए, घाट-घाट का पानी पिये हुए, पूरा चालाक़ और मक्कार ! उसको

शाहज़ादी की बीमारी की खबर लग गयी। नौकरों को घूस देकर उसने पूरा हाल दरियाफ़्त किया। उसे मालूम हो गया कि शाहज़ादी जलन की वजह से दवा धुलवा डाला करती हैं। सीधे शाहन्शाह सलामत के पास पहुँचा। कहा कि मैं डॉक्टर हूँ। शाहज़ादी का इलाज उसने अपने हाथ में ले लिया। उसने शाहजादी के हाथ में एक दवा लगायी। उस दवा से जलन होना तो दूर रहा, उलटे जले हुए हाथ में ठण्डक पहुँची। अब भला शाहज़ादी उस दवा को क्यों धुलवाती ? हाथ अच्छा हो गया। जानते हो वह दवा क्या थी ?" हम लोगों की ओर भेद-भरी दृष्टि डालते हुए हीरोजी ने पूछा।

"भाई, हम दवा क्या जानें ?" कृष्णानन्द ने कहा।

"तभी तो कहते हैं कि इतना पढ़-लिखकर भी तुम्हें तमीज़ न आयी। अरे वह दवा थी वैसलीन—वही वैसलीन, जिसका आज घर-घर में प्रचार है।"

"वैसलीन! लेकिन वैसलीन तो दवा नहीं होती।"—मनोहर ने कहा।

"कौन कहता है कि वैसलीन दवा होती है ? अरे उसने हाथ में लगा दी वैसलीन और घाव आप ही आप अच्छा हो गया। वह अँगरेज़ बन बैठा डॉक्टर और उसका नाम हो गया। शाहन्शाह शाहजहाँ बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस फिरंगी डॉक्टर से कहा—माँगो। उस फिरंगी ने कहा—हुज़ूर मैं इस दवा को हिन्दुस्तान में रायज करना चाहता हूँ। इसलिए हुज़ूर मुझे हिन्दुस्तान में तिजारत करने की इजाज़त दे दें। बादशाह सलामत ने जब यह सुना कि डॉक्टर हिन्दुस्तान में इस दवा का प्रचार करना चाहता है, तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—मंज़ूर! और कुछ माँगो। तब उस चालाक डॉक्टर ने जानते हो क्या माँगा ? उसने कहा—हुज़ूर, मैं एक तम्बू तानना चाहता हूँ, जिसके नीचे इस दवा के पीपे इकट्ठे किये जायेंगे। जहाँपनाह यह फ़रमा दें कि उस तम्बू के नीचे जितनी ज़मीन आयेगी, वह जहाँपनाह ने फिरंगियों को बख्श दी। शाहन्शाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, उन्होंने सोचा, तम्बू के नीचे भला कितनी जगह आयेगी। उन्होंने

कह दिया—मंजूर।

हाँ, तो शाहन्शाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, छल-कपट उन्हें आता न था। और वह अँगरेज़ था दुनिया देखे हुए। सात समुद्र पार करके हिन्दुस्तान आया था न! पहुँचा विलायत, वहाँ उसने बनवाया रबड़ का एक बहुत बड़ा तम्बू और जहाज़ पर तम्बू लदवाकर चल दिया हिन्दुस्थान। कलकत्ते में उसने वह तम्बू लगवा दिया। वह तम्बू कितना ऊँचा था, इसका अन्दाज़ा आप नहीं लगा सकते। उस तम्बू का रंग नीला था। तो जनाब वह तम्बू लगा कलकत्ते में, और विलायत से पीपे पर पीपे लद-लदकर आने लगे। उन पीपों में वैसलीन की जगह भरा था एक-एक अँगरेज़ जवान, मय बन्दूक़ और तलवार के। सब पीपे तम्बू के नीचे रखवा दिये गये। जैसे-जैसे पीपे ज़मीन घेरने लगे, वैसे-वैसे तम्बू को बढ़ा-बढ़ाकर ज़मीन घेर दी गयी। तम्बू तो रबड़ का था न, जितना बढ़ाया, बढ़ गया। अब जनाब तम्बू पहुँचा पलासी। तुम लोगों ने पढ़ा होगा कि पलासी का युद्ध हुआ था। अरे सब झूठ है। असल में तम्बू बढ़ते-बढ़ते पलासी पहुँचा था, और उस वक़्त मुग़लबादशाह का हरकारा दौड़ा था दिल्ली। बस, यह कह दिया गया कि पलासी की लड़ाई हुई। जी हाँ, उस वक़्त दिल्ली में शाहन्शाह शाहजहाँ की तीसरी या चौथी पीढ़ी सल्तनत कर रही थी। हरकारा जब दिल्ली पहुँचा, उस वक़्त बादशाह सलामत की सवारी निकल रही थी। हरकारा घबराया हुआ था। वह इन फिरंगियों की चालों से हैरान था। उसने मौक़ा देखा न महल, वहीं सड़क पर खड़े होकर उसने चिल्लाकर कहा—जहाँपनाह ग़ज़ब हो गया। ये बदतमीज़ फिरंगी अपना तम्बू पलासी तक खींच लाये हैं और चूँकि कलकत्ते से पलासी तक की ज़मीन तम्बू के नीचे आ गयी है, इसलिए इन फिरंगियों ने उस ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लिया है। जो इनको मना किया तो इन बदतमीज़ों ने शाही फ़रमान दिखा दिया। बादशाह सलामत की सवारी रुक गयी थी। उन्हें बुरा लगा। उन्होंने हरकारे से कहा—म्याँ हरकारे, मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक

फिरंगियों का तम्बू घिर जाये, वहाँ तक की ज़मीन उनकी हो गयी, हमारे बुज़ुर्ग यह कह गये हैं। बेचारा हरकारा अपना-सा मुँह लेकर वापस गया।

हरकारा लौटा, और इन फिरंगियों का तम्बू बढ़ा। अभी तक तो आते थे पीपों में आदमी, अब आने लगा तरह-तरह का सामान। हिन्दुस्तान का व्यापार फिरंगियों ने अपने हाथ में ले लिया। तम्बू बढ़ता ही रहा और पहुँच गया बक्सर। इधर तम्बू बढ़ा और उधर लोगों की घबराहट बढ़ी। यह जो किताबों में लिखा है कि बक्सर की लड़ाई हुई, यह ग़लत है। भाई, जब तम्बू बक्सर पहुँचा, तो फिर हरकारा दौड़ा।

अब ज़रा बादशाह सलामत की बात सुनिए। वह जनाब दीवान खास में तशरीफ़ रख रहे थे। उनके सामने सैकड़ों, बल्कि हज़ारों मुसाहब बैठे थे। बादशाह सलामत हुक़्क़ा गुड़गुड़ा रहे थे, सामने एक साहब जो शायद शायर थे, कुछ गा-गाकर पढ़ रहे थे और कुछ मुसाहब गला फाड़-फाड़कर 'वाह, वाह' चिल्ला रहे थे। कुछ लोग तीतर और बटेर लड़ा रहे थे। हरकारा जो पहुँचा तो यह सब बन्द हो गया। बादशाह सलामत ने पूछा—म्याँ हरकारे, क्या हुआ—इतने घबराये हुए क्यों हो? हाँफते हुए हरकारे ने कहा—जहाँपनाह, इन बदज़ात फिरंगियों ने अन्धेर मचा रखा है। वह अपना तम्बू बक्सर तक खींच लाये। बादशाह सलामत को बड़ा ताज्जुब हुआ। उन्होंने अपने मुसाहबों से पूछा—मियाँ, हरकारा कहता है कि फिरंगी अपना तम्बू कलकत्ते से बक्सर तक खींच लाये। यह कैसे मुमकिन है? इसपर एक मुसाहब ने कहा—जहाँपनाह, ये फिरंगी जादू जानते हैं, जादू! दूसरे ने कहा—जहाँपनाह इन फिरंगियों ने जिन्नात पाल रखे हैं—जिन्नात सब कुछ कर सकते हैं। बादशाह सलामत की समझ में कुछ आया नहीं। उन्होंने हरकारे से कहा—म्याँ हरकारे, तुम बतलाओ यह तम्बू किस तरह बढ़ आया। हरकारे ने समझाया कि तम्बू रबड़ का है। इसपर बादशाह सलामत बड़े खुश हुए। उन्होंने कहा—ये फिरंगी भी बड़े चालाक हैं, पूरे अक़्ल के पुतले हैं।

इसपर सब मुसाहबों ने एक स्वर में कहा— इसमें क्या शक है, जहाँपनाह बजा फ़रमाते हैं। बादशाह सलामत मुसकराये—अरे भाई, किसी चोबदार को भेजो, जो इन फिरंगियों के सरदार को बुला लावे। मैं उसे खिलअत दूँगा। सब मुसाहब कह उठे—वल्लाह जहाँपनाह एक ही दरियादिल हैं—इस फिरंगी सरदार को ज़रूर खिलअत देनी चाहिए। हरकारा घबराया। वह आया था शिकायत करने, वहाँ बादशाह सलामत फिरंगी सरदार को खिलअत देने पर आमादा थे। वह चिल्ला उठा—जहाँपहान! इन फिरंगियों ने जहाँपनाह की सल्तनत का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने तम्बू के नीचे करके उसपर क़ब्ज़ा कर लिया है। जहाँपनाह! ये फिरंगी जहाँपनाह की सल्तनत छीनने पर आमादा दिखाई देते हैं। मुसाहब चिल्ला उठे—एँ, ऐसा ग़ज़ब? बादशाह सलामत की मुसकराहट ग़ायब हो गयी। थोड़ी देर तक सोचकर उन्होंने कहा—मैं क्या कर सकता हूँ? हमारे बुर्ज़ुग इन फिरंगियों को उतनी जगह दे गये हैं, जितनी तम्बू के नीचे आ सके। भला मैं उसमें कर ही क्या सकता हूँ? हाँ, फिरंगी सरदार को खिलअत न दूँगा। इतना कहकर बादशाह सलामत फिरंगियों की चालाकी अपनी बेगमात से बतलाने के लिए हरम के अन्दर चले गये। हरकारा बेचारा चुपचाप लौट आया।

जनाब उस तम्बू ने बढ़ना जारी रखा। एक दिन क्या देखते हैं कि विश्वनाथपुरी काशी के ऊपर वह तम्बू तन गया। अब तो लोगों में भगदड़ मच गयी। उन दिनों राजा चेतसिंह बनारस की देखभाल करते थे। उन्होंने उसी वक़्त बादशाह सलामत के पास हरकारा दौड़ाया। वह दीवान-ख़ास में हाज़िर किया गया। हरकारे ने बादशाह सलामत से अर्ज़ की कि वह तम्बू बनारस पहुँच गया है और तेज़ी के साथ दिल्ली की तरफ़ आ रहा है। बादशाह सलामत चौंक उठे। उन्होंने हरकारे से कहा—तो म्याँ हरकारे, तुम्हीं बतलाओ, क्या किया जाये? वहाँ बैठे हुए दो-एक उमराओं ने कहा—जहाँपनाह एक बहुत बड़ी फ़ौज भेज दी जाये। हम लोग जाकर लड़ने को तैयार हैं। जहाँपनाह का हुक्म-भर हो जाये। इस

तम्बू की क्या हक़ीक़त है, एक मर्तबा आसमान को भी छोटा कर दें। बादशाह सलामत ने कुछ सोचा, फिर उन्होंने कहा—क्या बतलाऊँ, हमारे बुर्ज़ुग शाहन्शाह शाहजहाँ इन फिरंगियों को तम्बू के नीचे जितनी जगह आ जाये, वह बख्श गये हैं। बख्शीशनामा की रू से हम लोग कुछ नहीं कर सकते। आप जानते हैं, हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं। एक दफ़ा जो ज़बान दे दी, वह दे दी। तम्बू का छोटा कराना तो ग़ैरमुमकिन है। हाँ, कोई ऐसी हिकमत निकाली जाये, जिससे ये फिरंगी अपना तम्बू आगे न बढ़ा सकें। इसके लिए दरबार-आम किया जाये और यह मसला वहाँ पर पेश हो।

इधर दिल्ली में तो यह बातचीत हो रही थी और उधर इन फिरंगियों का तम्बू इलाहाबाद, इटावा ढँकता हुआ आगरे पहुँचा। दूसरा हरकारा दौड़ा। उसने कहा—जहाँपनाह, वह तम्बू आगरे तक बढ़ आया है। अगर अब भी कुछ नहीं किया जाता, तो ये फिरंगी दिल्ली पर भी अपना तम्बू तानकर क़ब्ज़ा कर लेंगे। बादशाह सलामत घबराये—दरबार-आम किया गया। सब अमीर-उमरा इकट्ठा हो गये, तो बादशाह सलामत ने कहा—आज हमारे सामने एक अहम मसला पेश है। आप लोग जानते हैं कि हमारे बुजुर्ग शाहन्शाह शाहजहाँ ने फिरंगियों को इतनी ज़मीन बख्श दी थी, जितनी उनके तम्बू के नीचे आ सके। इन्होंने अपना तम्बू कलकत्ते में लगवाया था, लेकिन वह तम्बू है रबड़ का, और धीरे-धीरे ये लोग तम्बू आगरे तक खींच लाये। हमारे बुजुर्गों से जब यह कहा गया, तब उन्होंने कुछ करना मुनासिब न समझा, क्योंकि शाहन्शाह शाहजहाँ अपना क़ौल हार चुके हैं। हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं और अपने क़ौल के पक्के हैं। अब आप लोग बतलाइए क्या किया जाये। अमीरों और मन्सबदारों ने कहा—हमें इन फिरंगियों से लड़ना चाहिए और इनको सजा देनी चाहिए। इनका तम्बू छोटा करवाकर कलकत्ते भिजवा देना चाहिए। बादशाह सलामत ने कहा—लेकिन हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारा क़ौल टूटता है। इसी समय तीसरा हरकारा हाँफता हुआ बिना इत्तला कराये ही दरबार

में घुस आया। उसने कहा—जहाँपनाह, वह तम्बू दिल्ली पहुँच गया। वह देखिए, क़िले तक आ पहुँचा। सब लोगों ने देखा। वास्तव में हज़ारों गोरे खाकी वरदी पहने और हथियारों से लैस, वाजा वजाते हुए तम्बू को क़िले की तरफ़ खींचते हुए आ रहे थे। उस वक़्त बादशाह सलामत उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—हमने तै कर लिया। हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारे वुज़ुर्गोंने जो कुछ कह दिया, वही होगा। उन्होंने तम्बू के नीचे की जगह फिरंगियों को बख्श दी थी। अब अगर दिल्ली भी उस तम्बू के नीचे आ रही है, तो आये। मुग़ल सल्तनत जाती है, तो जाये, लेकिन दुनिया यह देख ले कि अमीर तैमूर की औलाद हमेशा अपने क़ौल की पक्की रही है। इतना कहकर बादशाह सलामत मय अपने अमीर-उमरावों के दिल्ली के बाहर हो गये और दिल्ली पर अँगरेज़ों का क़ब्ज़ा हो गया। अब आप लोग देख सकते हैं, इस कलियुग में भी मुग़लों ने अपनी सल्तनत बख्श दी।"

हम सब लोग थोड़ी देर तक चुप रहे। इसके बाद मैंने कहा—"हिरोजी, एक प्याला चाय और पियो।"

हीरोजी बोल उठे—"इतनी अच्छी कहानी सुनाने के बाद भी एक प्याला चाय? अरे महुवे के ठर्रे का एक अद्धा तो हो जाता।"

□□

कुट्टिचातन

कुछ वर्गवाद

□

वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, मनीषियों और वी. पी. से माल भेजनेवालों—सभी ने अपने-अपने ढंग से मानव-जाति का वर्गीकरण किया और अपने-अपने स्थान पर, अपनी-अपनी सीमाओं के अन्दर, उनके बनाये हुए वर्ग सार्थक भी हो सकते हैं। विज्ञान और दर्शन में हमारी पहुँच उतनी ही है कि बस—किसी से पूछा गया कि 'भई, तैरना कितना जानते हो ?' तो बोला कि 'कुछ लोग बिना हाथ-पैर हिलाये डूब सकते हैं, हम डूबने से पहले जरा हाथ-पैर मार लेंगे।' और जहाँ तक वी. पी. माल का प्रश्न है, हमने वी. पी. छुड़ाये ही छुड़ाये हैं और एक-आध तो ऐसा भी छुड़ाया है कि उसमें से माल ही नहीं निकला! फिर भी हमने मोटे तौर पर मानव-जाति को दो वर्गों में बाँटने का जो भारी आविष्कार किया है, वह इतना भारी है कि उसका गुरुत्व हमीं पहचानते हैं!

साधारणतया मानव दो प्रकार के होते हैं: कूकुर-मानव और बिलार-मानव। कहीं आप इन पशु विशेषणों से समझें कि हम व्यंग्य कर रहे हैं—तो याद दिला दें कि प्राचीन सामुद्रिक ने पुरुष-नारी को जिन चार-चार श्रेणियों में बाँटा, वे आठों पशु-श्रेणियाँ ही थीं—तो व्यंग्य तो हर बात में है ही और हमारा अभिप्राय यह है कि मानवों में मूलतः दो प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—कुछ को कुत्ते अच्छे लगते हैं, कुछ को बिल्लियाँ। हमें स्वयं दोनों अच्छे लगते हैं, पर यह निर्णय करने का कभी मौक़ा नहीं मिला कि यह पसन्द आवर्तित होती रहती है, या कभी दोनों एक साथ भी (और एक जितने) अच्छे लगते हैं! यह जिज्ञासा अब भी बनी है, क्योंकि कभी अगर हमने इसकी पड़ताल करने का प्रयत्न किया भी, तो शोध के

साधनों ने योग नहीं दिया—कभी कुत्ते ने बिल्ली को खदेड़ दिया तो कभी बिल्ली ही कुत्ते पर ऐसी खिसियाकर झपटी कि कुत्ता दुम की लँगोटी लगाता हुआ भाग गया और फिर कभी दीखा नहीं—जैसे नक़ली साधु जिस मुहल्ले में उनकी पोल खुल जाये वहाँ फिर कभी नहीं आते !

वैसे अनुमान तो यही है कि दोनों एक साथ शायद ही किसी को अच्छे लगते हैं। समकालीन मुहावरे में कहें कि लोग या तो कूकुरवादी होते हैं, या बिलारवादी। सुना है कि अँगरेज़ लोग कुत्ते भी बहुत पालते हैं और बिल्लियाँ तो इतना कि इंगलिस्तान में हर तीन परिवारों पर दो बिल्लियों की पड़त आती है—पर अँगरेज़ तो समझौतावादी जाति है, इसलिए उसका दृष्टान्त काम नहीं देता !

दोनों मतवादियों के कुछ लक्षण विशिष्ट होते हैं। हमारे एक विश्लेषण-पटु मित्र का दावा है कि पुरानी कहावत को बदलकर यह कहना चाहिए कि 'हमें बता दो कि किसी का कुत्ता (या बिल्ली) कैसा (या कैसी) है, और हम बता देंगे कि वह आदमी कैसा है !'

साधारणतया बिलारवादी अन्तर्मुखी होते हैं। वे चिन्ताशील बहुत होते हैं, पर अपने हमारे विचारों की चर्चा कम करते हैं, और अपनी गतिविधि में हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते। उनमें स्नेह करने की शक्ति कम हो, ऐसा नहीं, पर वे प्रदर्शन कम करते हैं। कुछ उनमें सत्तालोलुप भी होते हैं, और सत्ता की साधना में कड़ी से कड़ी तपस्या कर सकते हैं। पर साधारणतया उनका सहज संयमित जीवन उनके स्वस्थ आत्मानुशासन का ही परिणाम होता है।

और कूकुरवादी ? बहिर्मुखी और प्रगल्भ, संवेदनशील और अपनी संवेदनाओं का असंयत प्रदर्शन करनेवाले, सीधे-सादे, अल्प-सन्तोषी प्राणी होते हैं। बातों में उन्हें प्रेम होता है, कभी कुछ अच्छी बात कह जाते हैं तो उससे स्वयं इतने प्रभावित हो जाते हैं कि बार-बार दोहराते हैं। आपने देखा है कि कुत्ता भी फेंकी हुई गेंद या लकड़ी उठाकर ले आता है तो उसे मालिक के पास रखकर किस अदा से उनके लिए प्रशंसा की

माँग करता है ? दाद न मिलने से वह अत्यन्त अप्रतिभ हो जाता है।

आप कहीं समझें कि हम कुत्ते के स्वभाव का मानव पर आरोप कर रहे हैं, और यह वैसी ही बात हुई कि चुकन्दर खाने से रक्त बढ़ता है, या कि तोते की जीभ खाने से आदमी बहुत बोलने लगता है। लेकिन यह बात हमारा आविष्कार नहीं है। स्वयं कूकुरवादी कुत्ते और मनुष्य के गुणों की तुलना किया करते हैं—और निर्णय भी कुत्ते के पक्ष में दिया करते हैं। ऐसी एक उक्ति प्रसिद्ध है। 'जितना अधिक मैं मानवों को जानता हूँ, उतना ही मैं कुत्तों से प्रेम करता हूँ।' बात गहरी मालूम होती है, और बहरहाल कहने का ढंग तो चमत्कारपूर्ण है ही—कूकुरवादी इससे कितने प्रसन्न होते हैं, क्या ठिकाना। और बहुत-से लोग जो कुत्तों से न मालूम स्नेह करते हैं या नहीं पर मानव द्वेषी ज़रूर हैं, इस वाक्य को प्रमाण-वाक्य मानकर चलते हैं—इसके बाद मानव के पक्ष में सोचने को कुछ उनके पास रह ही नहीं जाता।

हमें सदैव यह लगा है कि इस कथन की कुछ पड़ताल करनी चाहिए। पहला प्रश्न तो यह है कि जब आप कहते हैं कि आदमी की निस्वत में आपको कुत्ता अधिक प्रिय जान पड़ता है, तब 'आदमी' वर्ग में क्या आप अपने को भी गिन लेते हैं, या कि विचारक की तटस्थता की ओट लेकर अपने को छोड़ देते हैं ? अगर ऐसा है तो जनाब, आप आत्म-प्रबन्धक हैं, और आदमी से कुत्ते को अच्छा बताने का आपका यह स्टण्ट केवल इसलिए है कि आप अपने को दोनों से अच्छा मानते रह सकें—आपकी बात केवल प्रच्छन्न आत्मश्लाघा है।

और अगर ऐसा नहीं है, आप अपने को अलग नहीं रख रहे हैं, और 'मानव को जानने' से अभिप्राय स्वयं अपने को जानने से ही है—यानी अगर आप यह कहना चाहते हैं कि जितना आप अपने को जानते हैं उतना ही आप कुत्ते को अधिक प्रिय समझते हैं, तो यह आत्मावसाद विनय तो हो सकता है, पर प्रश्न यह रह जाता है कि आप तो कुत्तों से प्रेम करते हैं पर क्या कुत्ते भी आपसे प्रेम करते हैं ? और यहाँ आकर हम पाते हैं कि यह

फिर आत्म-समर्थन का ही एक रूप है। हर आदमी मूलतः अपने को मजनूँ मानता है, मुहब्बत के नाम पर मिट जानेवाला! जो मनुष्य को अपना प्यार नहीं दे सकते वे इसी पर इतराते हैं कि हम कुत्ते से इतनी मुहब्बत करते हैं।

वास्तव में मनुष्य है बड़ा अहम्मन्य प्राणी, और कुत्ते की स्वामिभक्ति का जो इतना बड़ा घटाटोप उसने खड़ा किया है, वह वास्तव में उसकी अहम्मन्यता का ही प्रतिविम्व है। स्वामिभक्ति अर्थात् मेरे प्रति भक्ति! कर्तव्यनिष्ठा, अर्थात् मेरे प्रति निष्ठा। अगर उसके अहं की पुष्टि उसके निकट इतना महत्त्व न रखती होती, तो क्या वह इस बात को अनदेखी कर सकता कि बुनियादी मूल्यों में स्वामिभक्ति से कहीं अधिक महत्त्व स्वातन्त्र्य-प्रेम का है? दया के दो टुकड़ों पर निरन्तर दुम हिलाते पीछे फिरनेवाला कुत्ता महान् है, स्वामिभक्त है, क्योंकि दुत्कारने पर भी लौट आता है और तलुए चाटता है और बरसों आपके इशारों पर हाँ-हुजूर करनेवाला तोता दुष्ट है, नाशुकरा है, क्योंकि कभी भी मौक़ा पाकर उड़ जाता है और फिर आपकी ओर कानी आँख नहीं देखता! क्यों साहब, आप ही क्या दुनिया के केन्द्र हैं कि आपके प्रति लगाव ही जीव मात्र के धर्म की कसौटी हो जाये? कुत्ते की दासत्व-स्वीकृति को आप आदर्श मानें, बिल्ली की निस्संगता को अकृ-तज्ञता, और तोते के स्वाधीनता-प्रेम को इतना हेय समझें कि विश्वासघाती को आप कहें तोताचश्म—कैसा अन्धेर है!

हम तो तोते की निष्ठा को चातक की निष्ठा से कम नहीं मानते। तोते को बन्दी रखिए, खिलाइए-पिलाइए, जैसा आप बुलायेंगे बोलेगा। एक दिन पिंजरे से निकल जाने दीजिए, बस फरंट हो जायेगा। फिर कहाँ का रोटी-चूरमा और कहाँ का मिट्ठूपन। सुखद से सुखद दासत्व भी जिसके स्वातन्त्र्य-प्रेम को न भरमा सके, वही तो स्वातन्त्र्य-निष्ठ है, नहीं तो थोड़ी-बहुत लपक-झपक तो साँकल पर बँधा पालतू कुत्ता भी कर लेता है।

और तोते की निष्ठा और भी स्पष्ट होकर हमारे सामने आती है जब हम देखते हैं कि तोता एक ओर अपना सोने का पिंजरा छोड़कर जाता है,

दूसरी ओर निश्चित मृत्यु के मुख में जाता है—क्योंकि जो एक बार वन्दी जीवन में रह चुका है, उसे फिर तोता-समुदाय स्वीकार नहीं करता, मार ही डालता है। यह जानते हुए भी कि एक बार दास बनकर रह चुकने के अपराध पर निश्चय ही मृत्यु-दण्ड मिलेगा, तोता सोने की कीलों के मोह में न पड़कर स्वातन्त्र्य का ही वरण करता है—क्या यही धर्म नहीं है? स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ?

वास्तव में मानव की अधिकतर मान्यताएँ—मूल्यों के सम्बन्ध में उसकी अवधारणाएँ—वर्गिक चिन्तन का परिणाम होती हैं—चिन्तन का नहीं तो भावनाओं का कह लीजिए। कुछ तो यह मानव की सहज दुर्बलता है कि कोटियों-श्रेणियों में सोचता है, कुछ इधर इसको मार्क्सीय विचार-धारा ने दार्शनिक प्रामाणिकता दे दी है। यह प्रायः मान लिया जाता है कि ऐसा वर्गगत चिन्तन एक सीमा नहीं, एक विशेषता है। फलतः ऐसे संकीर्ण चिन्तन की प्रवृत्ति और उसका अभ्यास बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि उस चिन्तन का आरोप हम पशुओं पर भी करते हैं। पशु-जगत् में जातिवाद और जाति-पाँतिवाद का नहीं तो और क्या कारण हो सकता है? जैसे सामन्त 'अभिजात' होते हैं—अँगरेज़ी मुहावरे के अनुसार उनका रक्त नीला होता है—उसी प्रकार नस्ली अलसासी (अल्सेशियन) भी अभिजात होता है और शहर की गलियों में भटकनेवाले वर्णसंकर की अपेक्षा 'उच्च'-कुलीन। आप कहेंगे कि यह अभिजातवाद तो डॉक्टर मलान का जातिवाद है, मार्क्स का वर्गवाद तो नहीं। और आप ठीक ही कहेंगे जहाँ तक अलसासी और अज्ञातकुल गली के कुत्तों की तुलना का प्रश्न है। लेकिन जाति-पाँति मूलतः तो कर्मगत वर्गीकरण का ही जड़ीभूत रूप है न? यही तो मार्क्सवाद भी मानता है कि कहार-कुरमी का स्तर इसलिए छोटा माना गया कि ये कमकर थे, और क्षत्रिय-ब्राह्मण इसलिए ऊँचे रहे कि ये सम्पन्न और नकारे थे?

वर्गों का आधार श्रम-सम्बन्ध है, यानी मालिक-चाकर के, काम देने और लेनेवाले के सम्बन्ध, यही मानकर हम चलें तो कुत्ते-बिल्लियों के

मामले में हम और भी दिलचस्प परिणामों पर पहुँचते हैं।

हमारे जैसे नाई-टहलुए, नौकर-चाकर, भंगी-भिश्ती, सईस-खिदमतगार होते हैं—और हाँ, कुत्ते-बिल्ली आदि पालतू जानवर भी होते हैं—उसी प्रकार (अगर जैसा कि हमने कहा, शुद्ध श्रम-सम्बन्धों के आधार पर वर्ग-विभाजन करते हुए देखें तो) इन पालतू जानवरों के भी होते हैं। हम क्योंकि मानवों की भाषा बोलते हैं, और भाषा सामूहिक अहंकी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम होने के नाते जिसकी भाषा होती है, उसकी नैतिक मान्यताओं और भावनामूलक आग्रहों से बँधी होती है; इसलिए हमें इन सम्बन्धों पर कुत्ते या बिल्ली की दृष्टि से विचार करने में कठिनाई होना स्वाभाविक ही है। नहीं तो यह कहकर बताने की आवश्यकता न होती कि अच्छे खानदानी कुत्ते-बिल्ली के भी इसी प्रकार चाकर-टहलुए होते हैं। सामन्तों के पीठमर्द होते थे तो बिल्लियों के भी कर्णकण्डूयक होते हैं और राजा के पीछे-पीछे उसका पल्ला उठाये चलनेवाला कोई कंचुकी होता है तो कुत्ते के पीछे-पीछे उसकी साँकल सँभाले चलनेवाला भी कोई होता ही है। रानी का दामन पकड़कर चलना बड़े गौरव की बात समझी जाती है; कुत्तों की साँकल सँभाले जो लोग पार्क-बग़ीचों में घूमते नज़र आते हैं, कोई उनकी मुद्रा पर ध्यान दे तो यही समझने लगेगा कि वही मुख्य हैं और कुत्ता गौण। यह भी तो इसीलिए है कि देखनेवाले भी मानव हैं और वर्ग-चेतना के कारण एक कुत्ते का पिछलगुआ दूसरे कुत्ते के पिछलगुए को ही पहले देखता हैं, स्वयं कुत्ते को नहीं! हमारे ही निकट तो इस बात का महत्त्व होता है कि एक कुत्ते की साँकल पर कल्लू बेरा है और दूसरे की साँकल पर छोटे डिपटी साहब—भले ही कल्लू बेरे के सामने जो कुत्ता हो वह कुक्कुर राजवंशी अलसासी या ग्रेट डेन हो, और डिपटी साहब के आगे निरा भुच्चर। स्वयं कुत्तों को इससे कोई मतलब नहीं होता, पार्क में कुत्ता-कुतिया अपने सजातीय को ही पहले देखते हैं, उन्हीं से दुआ-सलाम करते हैं या गाली-गुफ़्तार! उनके ज़ंजीरबरदार उनके निकट कोई महत्त्व नहीं रखते।

इसीलिए हम मार्क्सवादियों के क़ायल हैं। उन्होंने यह बात स्पष्ट करके रख दी है कि असल में शब्दों का कोई अपना अर्थ नहीं होता, अर्थ केवल एक आरोप है, जो वर्ग-चेतना से अनुशासित होता है और मुख्यतया भावाग्रही होता है। जैसे हमारे सामाजिक सम्बन्ध हों, वैसा ही अर्थ हमें भाषा देती है—या हम भाषा को देते हैं, भाषा से निकालते हैं। शब्दार्थ-सम्बन्धी उनकी यह स्थापना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसका एक नया विज्ञान बन गया है—'सिमैण्टिक्स'; इसका हिन्दी पर्याय हम 'शब्दार्थ-विज्ञान' बताते; पर अर्थ तो अब स्थिर रहा नहीं, द्वन्द्व-सिद्धान्त के अधीन चलनशील हो गया; इसलिए कहें 'शब्द-बीज-विज्ञान'। हर शब्द एक बीज है और विज्ञान से पहले तो यह था कि जिसका बीज हो वही फल होगा, जो आप बोयेंगे वही आपको फलेगा, पर अब विज्ञान की बदौलत यह हुआ है कि बोवे सेंहुड़ काटे ऊख। यह तो बूर्जुआ विज्ञान का मताग्रह था कि एक जीवन में पाये हुए संस्कार वंश-परम्परा में नहीं आ जाते—लाइसेंको ने वह सब बदल दिया है।

अब देखिए न : हम कहते हैं, 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।' कहने-कहने में हम इस बात की उपेक्षा कर गये कि हमारी बात ही हमारी भावना का खण्डन कर रही है—भावना हम यह जगाना चाहते हैं कि कुत्ता कहीं का नहीं है, यद्यपि आरम्भ में ही तथ्य यह माना है कि कुत्ता धोबी का है। जब वह धोबी का है, तब उसे इससे क्या कि वह घर का है या घाट का? वह तो धोबी का है ही और ज़रा कहावत गढ़ने-वाले आदमी-बच्चे से यह पूछा जाये कि कुत्ते का धोबी आख़िर कहाँ का है, घर का कि घाट का? असल में चिड़ी-बल्ले की चिड़िया की तरह इधर-उधर मारा-मारा तो वह फिरता है, लेकिन क्योंकि वह भी श्रमकर इनसान है, इसलिए हमने उसके अनाथत्व का आरोप कर दिया बिचारे कुत्ते पर, जो और जो कुछ हो या न हो, सम्बन्ध कारक से अनुशासित अवश्य है!

जी नहीं हम बहके नहीं! यह तो वर्ग-गत चिन्तन का परिणाम ही

है। क्योंकि एक बार बाँटकर देखने चले तो फिर बाँटने का अन्त नहीं। जिसे दो में बाँटा जा सकता है उसे चार में भी बाँटा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक भाग को फिर दो में बाँटा जा सकता है। विश्लेषण-बुद्धि की यही मर्यादा है। हम बहुत दिनों तक स्वयं विश्लेषणवादी नहीं तो वैसे वादियों के क़ायल ज़रूर रहे, पर अन्त में समझ में आ गया कि प्याज को बहुत छीलने से हाथ कुछ नहीं आता, परत पर परत उतारते हम शून्य तक ही पहुँचते हैं। तबसे हम समन्वयवादी हो गये हैं। परत पर परत चढ़ाना ही ठीक मानने लगे हैं और तब से तो हम चारों खाने चित्त पड़े हैं जब से एक समन्वयवादी ने हमें यह बताते हुए, कि असल में भेद केवल बुद्धि-भेद है, वैसे सब कुछ एक है, यह दृष्टान्त दिया कि विश्लेषणवादी अँगरेज़ कहते हैं, 'फाइटिंग लाइक कैट्स एण्ड डाग्स'—कुत्ते-बिल्लियों की तरह लड़ना; पर कुत्ते-बिल्ली दो नहीं हैं, मूलतः एक हैं : जिस आधार पर वे टिके हैं (यानी उनकी दुम) वह एक ही है—दुम दोनों की कभी सीधी नहीं होती !

□ □

अल्बर्ट कृष्ण अली

कालिदास के समधी [?]

□

देवताओं की प्रशंसा में खोये-से कालिदास तब नन्दन-वन की ओर जा रहे थे। त्रिदेवों से चन्दन-चर्चित और देव-सभा से अभिनन्दित कालिदास को ऐसा लग रहा था कि जैसे वे वीणा की स्वर-लहरियों पर नृत्य करनेवाले गीत हों, प्रशंसा के मानसरोवर पर तिरनेवाले मराल हों। उन्हें सब-कुछ आशीर्वाद की तरह मंगलमय दीख रहा था। लग रहा था कि समस्त दृष्टि यज्ञ की तरह पवित्र है और जातवेदा-प्रतिभा मातरिश्वा-प्रशंसा को पाकर पुलकित-प्रज्वलित हो उठी है और वे अपने जीवन का एक-एक दण्ड समिधा के समान प्रदीप्त कर रहे हैं तथा उसकी विभा तीनों लोकों को आभा-मण्डित और भास्वर कर रही है।

मलय उत्तरीय से अठखेलियाँ कर रहा था, और आत्म-मुग्ध कालिदास कल्पना के समान तरल बने, सुगन्धि के समान वायवीय बने तिरे जा रहे थे। तभी अचानक उन्होंने दूर-सुदूर उस महानील के पास एक घना काला धूम-बिन्दु देखा। उनके नेत्र उस धूम-बिन्दु पर चिपक गये और निमिषमात्र में वह धूम-बिन्दु उभर चला तथा कुण्डली मारे महानाग की तरह दिखाई पड़ा। और लो, वह महानाग-जैसे अपना विशाल फन उठाकर मरुद्गण-पर फुत्कार उठे, बढ़ता चला आया। उस नील-कृष्ण धूम-समूह ने क्षण-भर में दिग्गजों को निगड-बद्ध किया, दिक्पालों को खदेड़ भगाया और समस्त दिक्-मंडल को लीलकर महाकाल-सा विराट् और कालकूट-सा भीषण सघन अन्धकार फैला दिया। उस महाविराट् कृष्ण-मेघ की दुर्भाग्य-जैसी पृष्ठभूमि में कालिदास चित्रित सौभाग्य की तरह क्षीण और अज्ञान की तरह जड़ दिखाई पड़े। उन्हें लगा कि पूर्व और उत्तर मेघ लिखने के

कारण दक्षिण और पश्चिम मेघों ने जैसे प्रतिरोध का अभियान किया हो, अथवा दिङ्नागों-अश्वघोषों की धुँधुआती ईर्ष्याग्नि जैसे भीमकाय दैत्य का रूप धारण कर बढ़ी आ रही हो, अथवा अभी के अहंकार का पाप ही दानव-सा विराट् होकर दर्प-दलन को चल पड़ा हो। सो त्रस्त कालिदास ने आँखें मींच लीं और आर्तक्रन्दन किया, "हे मृडेश! हे व्योमकेश! त्राहि, त्राहि! क्षमा करो करुणानिधान! रक्षा करो शरणागतवत्सल! हे दयानिधान शंकर! त्रिपुरारि!"

और अर्द्धोन्मीलित नेत्र से कालिदास ने देखा कि गरलाम्बुधि की तरह लहरानेवाला दृष्टिपथ का वह काला-सागर अचानक स्वर्ण-धूलि की तरह चमक उठा है और उसमें तीन ज्योति-रेखाएँ उतरा आयी हैं। आश्वस्त हुए कि त्रिनेत्र ही आ रहे हैं। किन्तु तत्काल वह सागर अरुण हो उठा और तीन ज्योति-रेखाएँ तीन अरुण कुमारियों में रूपायित हो उठीं। तत्क्षण कालिदास ने आकाशवाणी की तरह सुना कि कोई कर्कश बादल कड़क उठा है—"पुत्रियो! यही कालिदास हैं। इन्हें प्रणाम करो।"

इन तीन कुमारियों में से एक जो प्रौढ़ वयस के कारण ज्येष्ठा-सी दीख रही थी, आगे बढ़ आयी। कालिदास ने देखा कि शब्द और अर्थ के उसके युगल-चरण कोष की तरह फूले हैं जिसपर थोथे ज्ञान की गरिमा की कदली-जंघाएँ शोभित हैं। लक्षणा और व्यंजना के उरोज आत्म-प्रदर्शन की तरह पीन तथा पाण्डित्य के समान कठोर उभरे हुए ऐसे प्रतीत हो रहे हैं कि जैसे भोग्य गेह पर 'स्वागतम्' टँगा हो। झपताला और ध्रुपद के बाहु-द्वय और ताण्डव तथा लास्य के हस्त-कमल कितने मनोरम थे! पूर्व का शास्त्रज्ञान और पश्चिम का शास्त्र-ज्ञान यदि दोनों भौंहों में था, तो नेत्र में रूढ़िवादिता का सूनापन और मौलिकता का खोखलापन था। दोनों कर्ण खण्डहर की तरह झूल रहे थे। व्याकरण-सी भोंडी नासिका थी और आलाप की तरह उसका मुँह फटा था। तर्क-जाल-सी केश-राशि पर अनेक पुस्तकों की सूक्तियाँ रत्नों की भाँति जड़ी जगमगा रही थीं।

उसने आगे बढ़कर कहा, "हे कवि! मल्लिनाथ ने कहा है कि आप

श्रेष्ठ कवि हैं, अतः आपकी श्रेष्ठता प्रमाणित हो गयी। अग्निपुराण में व्यासदेव ने कहा है कि 'अर्थालंकार-रहिता विधवैव सरस्वती।' अतः अपने काव्य में अलंकारों की स्वर्ण-रजत-प्रदर्शनी खोलकर आपने सरस्वती को विधवा होने से बचा लिया है। रुद्रभट्ट, भोज, व्यास और आनन्दवर्धन ने बताया है कि श्रृंगार ही श्रेष्ठ रस है। अतः आप श्रेष्ठ रस के श्रेष्ठ कवि हुए। 'काव्येषु नाटकं रम्यं' के कारण ही आप रमणीय हैं। दाँते ने कहा है,... कहा है .. अच्छा, छोड़िए दाँते को। अरस्तू बताया है कि.... कहता है कि....जाने दीजिए, अरस्तू को। गेटे को लीजिए, जिसने कहा है कि शकुन्तला मर्त्य और अमर्त्य दोनों है। और शेक्सपीयर ने क्या कहा है? उसने कहा है कि 'अवर स्वीटेस्ट सौंग्स आर दोज़ दैट टेल ऑफ़ सैडेस्ट थाट।' हो सकता है कि शेली ने कहा हो, पर उससे क्या? हाँ, ब्रैडले ने बताया है कि 'लव इज़ लवलिएस्ट ह्वेन इमबाइव्ड इन टियर्स।' टाल्स्टाय या लामालूमभाय बतला गये हैं कि 'पोयट्री विदाउट मिस्टिसिज़्म इज़ प्रोज़।' इसीलिए आपके नाटक 'शकुन्तला' में करुण गीत है, अश्रु-पुलक है और रहस्यावरण है। टी. एस. इलियट ने बताया है कि 'दि रियल फ़ंक्शन ऑफ़ आर्ट इज़ टु एक्सप्रेस फ़ीलिंग एण्ड ट्रान्समिट फ़ुलिशनेस।' और देखिए कि आज कहीं एक्सप्रेस फ़ीलिंग नहीं, केवल एक्सप्रेस तार और एक्सप्रेस गाड़ी है। वह तो आप हैं कि एक्सप्रेस फ़ीलिंग से सभी अध्येताओं को विमूढ़ बना देते हैं। काकटिउ के अनुसार 'आर्ट इज़ साइंस विकम फ्लेश।' आप साइण्टिस्ट हैं, पर मांसल; जब कि अन्य साइण्टिस्ट कंकालमात्र हैं। वेवर का कहना है कि 'आर्ट, रिलीज़न एण्ड इडियोसी आर वन एण्ड दि सेम थिंग, सुपिरियर इन्न टु फ़िलॉसफ़ी।' अतः क्रमशः आप क्राइस्ट और मैं 'सेमथिंग' हूँ। फिर 'फ़िलॉसफ़ी कनसीव्स गॉड; आर्ट इज़ गॉड' के अनुसार आपका साहित्य गॉड ठहरता है और आप उसके पिता, महापरमेश्वर। सो आपको प्रणाम है।"

ज्ञान और अज्ञान के बीच त्रिशंकु बने कालिदास को लगा कि वे अलका की यक्षिणी के समक्ष तो उपस्थित नहीं हो गये हैं। तभी वह दूसरी

कुमारी जो तन्वंगी मध्या नायिका-सी प्रतीत हो रही थी, आगे बढ़ आयी। बड़ी ही कोमल शरीर-यष्टि थी उसकी, जैसे निर्माण में केवल जल और समीर तत्त्व ही लगे हों। घन-पट पर ज्यों 'बिजली का फूल' खिल आये, वह मुसकराकर आगे बढ़ी और मधुर गीत की भाँति बोली, "हे कवि-शिरोमणि ! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। इस वन्दना को स्वीकार करें। देव ! हे काव्य-महोदधि ! मुझे तो ऐसा लगता है कि जैसे आपके काव्य में संगीत चित्र होकर जम गया हो, अथवा चित्र ही गीत के रूप में मुखर हो उठा हो। अथवा जैसे नृत्य की चंचल मत्त थिरकनें छन्दों के बाहु-पाश में आबद्ध निरलस सो गयी हों। भाव की अरूपता को रूप का आसव पिलाकर उन्हें ऐसा झूम-झटक प्रमत्त आपने बना दिया है कि कैसा तो तन्मयकारी आकुल कम्पन आपके साहित्य में लहरा उठा है ! कुछ ऐसा सजग क्रन्दन, कुछ ऐसा चपक लिबलिबापन आपके साहित्य में है कि मन को गोंद की तरह चप से चिपका लेता है। सो हे कवि-कुल-दिवाकर ! नदियों के कल-कल और पक्षियों के कलरव में आपकी ही मुखर प्रशंसा है और वृक्षों के मर्मर, पवन के सन्-सन्, घण्टे के डिग्-डिग् और रण-रण कर बजते हुए ढोल-नगाड़े-मृदंग से एक ही ध्वनि हौले-हौले अथवा तीव्र-तीव्र निर्गत होती है—कालिदास ! मशीनें गड़गड़ातीं नहीं, कालिदास का उद्घोष करती हैं ! रेलगाड़ी 'कालिदास-कालिदास' मन्त्रोच्चारण करती हुई ही चल पाती है ! लगता है कि वंगसागर की तरंगें 'कालिदा, कालिदा' चीख रही हों और गगन-जैसे 'स' बोलकर चुप हो गया हो। मेघ कड़क कर पूछता है, श्रेष्ठ कौन ?' और बिजली सोने की खड़िया से कृष्णपट्ट पर 'कालिदास' लिख जाती है। 'का' पूरब है, 'लि' दक्खिन है, 'दा' पश्चिम है और 'स' उत्तर है। विश्व का वह श्रेष्ठ आलोचक सूर्य, पूरब, दक्खिन, पश्चिम तो जाता है, पर उत्तर उससे भी बच जाता है। 'का' ब्रह्मा है, 'लि' विष्णु है, 'दा' शिव है, पर 'स' त्रिदेवों से भी निःशेष नहीं होता। इन्द्र-धनुष के सात रंग हैं। सूरज के सात घोड़े हैं। सरस्वती की वीणा के सात सुर हैं। सात ऋषियों की सप्तर्षि-मण्डली और सात

तारों का उड़नखटोला विख्यात है। कालिदास में भी सात वर्ण हैं। दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य के आपके पुत्रद्वय अश्विनी कुमारों से भी प्राणोन्मेषक और चाँद-सूरज से भी मनोरम हैं। गायत्री वेद-माता हुई तो क्या, जब कालिदास की माता नहीं हो सकी ? आपकी सृष्टि को देख ब्रह्मा की सृष्टि ने लाज के मारे मेघों का अवगुण्ठन डाल लिया, अमा की निविड कुहेलिका में मुँह छिपा लिया, और ब्रह्मा ने दाढ़ी बढ़ाकर जैसे घोषणा कर दी कि मैं वृद्ध हो गया हूँ, रक्षा करो; पुराने जूते की तरह मत फेंको। जल-भुनकर वह सृष्टि प्रलय की नील चादर में दुबक सुबकियाँ लेने लगी। कालिदास ! भारतीयता की जीभ हैं, मनुष्यता के कण्ठ हैं, काव्य की मूँछ हैं। सो, हे कवि ! यही हमने अपने थीसिस में लिखा है और हमारी यह अर्चना स्वीकार करें !" और मौग्ध्य रग-रग से टपकाकर वह ओस-विन्दु की भाँति ढुलक गयी।

इन विराट् विशेषणों की पौष्टिक औषधियों से अव्यय की तरह निश्चेष्ट कालिदास संज्ञा की तरह सचेत हुए। तभी तीसरी कुमारी कनिष्ठा आगे बढ़ी। हथौड़े की तरह उसकी नाक थी और हँसुए की तरह वक्र भौंहों के नीचे साम्यवाद-से आरक्त नेत्र थे। समस्त शरीर पर फ़ायड, एडलर, युंग, डारविन, सार्त्र, स्पिनगार्न, काडवेल आदि के गहने थे और मार्क्स-एंजेल-हिगेल-नीत्से आदि के सिद्धान्त कर्ण-भूषण की तरह कानों से झूल रहे थे। कारखाने की तरह मुँह खोलकर उसने मज़दूर नेता की तरह बोलना शुरू किया, "कालिदास ! मैं तो चाहती थी कि तुम्हारे दोनों पुत्र कामरेड नाटक और कामरेड काव्य के नाम से संसार में स्तालिन और माओ होते ! किन्तु तुममें आभिजात्य संस्कार भरा था और तुम बुर्जुआ समाज के अगुआ होकर रेलिक मात्र हो सके। इसीलिए उनमें कैपिटलिस्ट आउटलुक है। न्यूरोटिक एलिमेण्ट है। आबसेशन और फ़ोबिया के कंप्लेक्सेज़ हैं ? मैं कहती हूँ, साहित्य अफ़ीम नहीं, दिमाग़ी ऐय्याशी नहीं। उसे समाज का निर्माण करना है। वह तो हथौड़ा है, जो उन पूँजीपतियों, धर्मधुरन्धरों की औंधी खोपड़ी फोड़ता है, जिन्होंने समाज में वर्ग-वैषम्य

का विष फैला रखा है और जोंक तथा औक्टोपस की तरह जनता को चूस लिया है। मैं पूछती हूँ कि मेघदूत के पागल प्रलाप से मिल चल सकती है? ट्रैक्टर चल सकता है? आलू बोया जा सकता है? रोटी बनायी जा सकती है? शकुन्तला-जैसी निरीह नारी से भरत-जैसा ट्रट्स्कीनुमा प्रतापी पुत्र किस खब्त के दक़ियानूसी विचार पर पैदा कराया था? मैं तो खुश होती जब प्रत्याख्यान के बाद शकुन्तला दुष्यन्त का गला घोंट साम्राज्यशाही का अन्त करती और साम्य का प्रचार करती। अरे, ऋतुसंहार नहीं, रीति-संहार कराते। और वह रघुवंश तो बिलकुल प्रतिक्रियावादी भोंडी कैंपिटलिस्ट चीज़ है। हाँ, 'कुमार-सम्भव' में 'लिबिडो' का मनोरम चित्रण हुआ है। पर कालिदास, तुमने सुपरमैन का स्वप्न न तो देखा, न दिखाया। मुझे खेद है कि तुमने क्वान्तम-सिद्धान्त सापेक्षवाद, फ़ोर्थ डायमेन्शन, सररियलिज़्म, एनीबालिज़्म, कैंटेबालिज़्म, सेक्सथ्योरी, एक्ज़िशटेंशियलिज़्म वग़ैरह पढ़े बिना और डासकैंपिटल, इल्यूज़न एण्ड रियलिटी, क्रिएटिव इवौल्युशन, पॉलिटिक्स, पोयटिक्स, डिसेण्ट ऑफ़ मैन, फ़िजिक्स, केमिस्ट्री, बायलॉजी, और सायकालॉजी आदि उलटे बग़ैर ही साहित्य रच डाला। तभी तुम्हारे साहित्य ने संसार के वर्ग-संघर्ष को मिटानेवाली जन चेतना के महा-समुद्र को एक चुल्लू पानी भी नहीं दिया। ऊफ़! कितनी बड़ी प्रतिभा दिग्भ्रमित हुई! मैं इस व्यर्थता और क्षय की विराट्ता को देख दंग हो गयी थी और उसी पर रिसर्च किया है। अब भी चाहो, तो मेरे सहयोग का लाभ उठा लो। मैं समक्ष नत हूँ।"

संज्ञा की भाँति सचेत कालिदास यह सुनकर क्रिया के समान सचेष्ट हुए और कड़ककर बोले, "तुम लोग कौन हो? किसकी पुत्रियाँ हो? तुम्हारे पिता कौन और कहाँ छिपे हैं?"

उत्तर में एक आवाज़ आयी, "इनका पिता मैं हूँ। छिपा नहीं हूँ; अपने विराट् रूप में हूँ। अतः आप देख नहीं पा रहे हैं। सो, मैं लघु-रूप में यह आया।"

और एक दिव्य पुरुष दिखाई पड़ा। उसने कहा, "मैं ही इनका पिता

हूँ। मैं सरस्वती के द्वार का सजग प्रहरी, भावलोक का त्राता महाविष्णु और परिहर्ता महाशिव, साहित्य-साम्राज्य का एकाधिपिति, सार्वभौम सम्राट् प्रकाशकानाम् प्रिय दिव्यदर्शी आलोचकाधिराज आपको प्रणाम करता हूँ। ये मेरी जो तीन पुत्रियाँ हैं, वे आलोचनाएँ हैं। ज्येष्ठा यह है।"

कालिदास ने अब सब कुछ समझ लिया। उन्हें चाणक्य की एक उक्ति याद आ गयी कि जो सी. आइ. डी., साँड, बीमा-एजेण्ट और आलोचक को देख कर नहीं भागता, वह पामर निश्चय ही इहलोक, परलोक, त्रिशंकु-लोक और श्वसुर-लोक सब कुछ गँवाता है। सो, कालिदास उन चारों की चतुरंगिणी को देख भागे। लेकिन चारों तरफ़ से उन चारों ने उन्हें छेंक लिया। तब बेबसी का निःश्वास छोड़, शिव-स्तोत्र का जाप करते हुए कालिदास ने आगे बढ़ी हुई उस ज्येष्ठा से पूछा, तुम्हारा नाम ?"

वह बोली, "मेरा नाम चयनिका है।" "चयनिका ? चयनिका ! अहा, किन्तु....किन्तु आपके नामकरण में कुछ मतिभ्रम हो गया है। मैं तो कहूँगा, उसे वमनिका में बदल लें।....नहीं, विसूचिका बढ़िया-सा नाम होगा ! अहा, विसूचिका कुमारीजी !" कालिदास ने कहा। इसपर अन्य दो कुमारियाँ खिलखिल हँस पड़ीं। तन्वंगी मध्या ने कहा, "अहा, हा-हा, विसूचिका ! विसूचिका दीदी, अर्थात् हैज़ा दीदी, अर्थात् पाचन और रस-ग्रहण की क्रिया का एकान्तिक अभाव !" कनिष्ठा ने कहा, "और क्या ? प्रचीन संस्कारों, रूढ़ियों का वमन और विष्ठा तथा लाइफ़-फ़ोर्स, एलाँ-विट्ल का नितान्त अभाव, फॉसिल !!"

"और यह मँझली तन्मया है !" आलोचकाधिराज ने कहा।

"तब तो कीट-भृंगी न्याय से बड़ा ही चौकस यह नाम बैठता है।" कालिदास ने उत्तर दिया।

"और यह रही छोटी कान्तिजा।" उन्होंने तीसरी को सामने करके बताया।

"यह आत्मजा है या क्षेत्रजा ?" कालिदास ने पूछा।

"यह मार्क्संजा है।" उन्होंने बतलाया।

"तो मुझे कौन-सी सेवा करनी है ?" कालिदास ने पूछा।

आलोचकाधिराज इसपर बड़े विनीत हो गये, जैसे ब्लैक-मार्केट में सेठजी पकड़े गये हों और बोले, "सो हे कालिदासजी महाराज! मैं इनके तुल्य वर कहीं भी नहीं पा सका अथवा जहाँ पाया इन्हें पसन्द ही नहीं आया। अतएव आपके पुत्र-द्वय नाटकराज और काव्याधिराज से यदि इनका पाणिग्रहण...."

यह सुनकर कालिदास बोले, "तो सुनिए आलोचकाधिराजजी महाराज! इन तीनों में से एक तो विकृत मस्तिष्क ही मस्तिष्क है, दूसरी प्राकृत हृदय ही हृदय है और तीसरी अनुकृत हाथ-पाँव ही हाथ-पाँव है। जहाँ मस्तिष्क है, वहाँ हृदय नहीं, जहाँ हृदय है वहाँ नेत्र और मस्तिष्क और मेरुदण्ड नहीं, और जहाँ मेरुदण्ड-भुजदण्ड है, वहाँ मस्तिष्क और हृदय ही लापता है। कोई लूली है, कोई अन्धी है तो कोई हृदयहीन है। अतः विसूचिका....अरे....रि-रे....चयनिंका अजायब-घर के उपयुक्त है, तन्मया पागलखाने के योग्य है और क्रान्तिजा यतीमखाने, जेलखाने के लायक़ है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि ज्ञान, भाव और क्रिया टूटकर, विश्रृंखल होकर पृथक्-पृथक् रहकर ऐसी ही अनासृष्टि उपस्थित करते, तिकड़मी बन जाते हैं। अपना घर मैं इन तीनों से तीन-तेरह नहीं कराऊँगा। और इन्हीं तीनों ने मृत्युलोक के विद्यार्थियों को भ्रष्ट किया है, साहित्य के तपस्वियों को तप से डिगाया है। अब आप इन्हें स्वर्ग में उठा लाये हैं। नारद भी तो एक बार छककर मट्ठा फूँककर पीते हैं। सो, इन्हें यहाँ कौन सँभालेगा ? हाँ, एक काम आप कर सकते हैं। इन्हें इन्द्रपुरी ले जाकर उर्वशी, रम्भा और मेनका के स्थान पर बिठा दें, क्योंकि वे अब प्रौढ़ा हो चली हैं।"

सुनते ही आलोचकाधिराज के नथुने फूलने लगे और उन्होंने चीत्कार किया, "रे अश्वघोष के चोर! मालिन का टहलुआ! मैं सम्पादकीय में तेरी भर्त्सना कराऊँगा। मैं सिद्ध करूँगा कि तू सम्राट् विक्रमादित्य क्या, किसी

खोनचेवाले के दरबार में भी नहीं था, क्योंकि तू कभी पैदा ही नहीं हुआ था।" और फिर तीनों पुत्रियों ने जो प्रहार शुरू किया तो कालिदास का उत्तरीय तार-तार हो गया, केश नुच गये और वे पिण्ड के समान पड़ रहे। लगा, कालिदास का 'कालिदा' घिस-पिटकर साफ़ हो गया है; जो बचा था सो 'स' मात्र था—सिसकता, सुबुकता।

तभी शिवजी आ धमके। उन्होंने चारों के आठ चंगुलों से कालिदास को मुक्त किया और उन चारों को ऐसा खदेड़ा कि वे मर्त्य-पाताल आदि न जाने किस लोक में गिरकर चकनाचूर हुए।

कालिदास ने कहा, "प्रभो! प्रभो! बच गया! पितामह! संहार कर डाला था। वह तो....वह तो....आप पहुँच गये, अन्यथा आज....किन्तु देव! मैं कब से आपका आह्वान कर रहा था, आखिर इतनी देर आप कहाँ थे?"

"अरे, क्या बताऊँ कालिदास, इस आलोचक के पिट्ठू प्रचारकों ने मुझे घूस देकर रोक रखा था।" शिवजी ने बतलाया। फिर कहा, "इस त्रिपुर का विनाश अर्थात् समरस सामंजस्य की स्थापना करनी है, तभी शुद्ध वैज्ञानिक सन्तुलित आलोचनाएँ उद्भूत होंगी।"

□ □

मोहनलाल गुप्त

आर्यसमाजी श्वसुर

□

शादी को पूरे साल-भर भी नहीं हुए थे कि होली आ पहुँची। होली में ठूँठों में भी जान आ जाती है। फिर मेरे-जैसे भावुक आदमी के जानदार दिल में स्पन्दन होना अस्वाभाविक नहीं था। आदमी के जीवन की एक यह भी आकांक्षा रहती है कि होली पर ससुराल से बुलावा मिले। पर संसार में मूर्खों और कंजूसों की संख्या अधिक होने के कारण पंचानबे प्रतिशत दामादों की इच्छा अधूरी ही रह जाती है। मैंने अपने को भाग्य-शाली समझा जब श्वसुरजी का लिफ़ाफ़ा हाथ में पड़ा। पत्र में केवल चार पंक्तियाँ थीं—

"चिरंजीवी चूड़ामणि, होली पर बरेली चले आना। गीता, गायत्री की भी यही इच्छा है।" निमन्त्रण सादा ही था। आने पर ज़ोर नहीं दिया गया था। फिर भी उसे ठुकराने के लिए काफ़ी आत्मबल की आव-श्यकता थी, जिसका मेरे पास अभाव था।

यह तो आप जान ही गये कि मेरी ससुराल बरेली में है। इतना और बता दूँ कि मेरे श्वसुर जेलर हैं। हैं तो नहीं, रह चुके हैं, पर जीवन में एक बार जो जेलर हुआ वह हमेशा के लिए जेलर रह जाता है। जेलर की बेटी से मैं शादी करने के लिए इसलिए तैयार हो गया कि कभी बड़े घर जाना पड़े तो 'बड़े घर की बेटी' काम आयेगी। पर मेरा दुर्भाग्य कि शादी के बाद ही श्वसुर साहब ने पेन्शन ले ली। और इस बीच कांग्रेस ने भी सरकार से सुलह कर ली और मुझे जेल जाने का और श्वसुर साहब की मेहमानबाज़ी का लुत्फ़ उठाने का मौक़ा नहीं दिया गया।

शादी के बाद मुझे दो बड़ी बातें मालूम हुईं। एक तो यह कि मेरे

श्वसुर साहब कट्टर आर्यसमाजी हैं, दूसरे मेरे श्वसुर साहब के जेलर स्वरूप का तनिक भी प्रभाव मेरी श्रीमतीजी पर नहीं पड़ा है। मेरी श्रीमतीजी जेलर होतीं तो क्या होता ? इस सम्बन्ध की सारी कल्पनाएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं।

श्वसुर साहब के निमन्त्रण में तो नहीं, पर गीता और गायत्री के नाम में ज़रूर कुछ आकर्षण था, जिससे खिचा। मैं ठीक टाइम पर सीधे स्टेशन चला गया। पंजाब मेल पकड़ी। रास्ते में कोई दुर्घटना नहीं हुई और मैं बरेली पहुँच गया।

दरवाज़े पर ही साली ने और परदे की ओट से श्रीमतीजी के मुस-कराते हुए चेहरे ने जो स्वागत किया तो सारे रास्ते की थकावट दूर हो गयी और मस्तिष्क में यह भावना घर कर गयी कि मैं स्वर्ग में हूँ।

'जीजाजी नमस्ते' का जवाब भी मैं न दे पाया था कि सामने श्वसुर साहब को खड़ा पाया। "तुम आ गये"—जैसे कोई बे-बुलाये आ गया हो।

"जी।"

"अच्छा।"

इसके बाद गीता ने मुझे सँभाल लिया। गीता श्रीमती गायत्री देवी की छोटी बहन थी इसलिए मेरी साली थी। सुन्दर थी इसलिए आकर्षक भी थी। कुमारिका थी इसलिए चुलबुली भी थी। रास्ते की सारी थका-वट गीता की मीठी बातों ने दूर कर दी। नाश्ते के बाद भोजन। इसके बाद श्वसुरजी की आज्ञा हुई कि थके हो सो जाओ। आज्ञा पालन के लिए बिस्तर पर गया पर नींद कहाँ ? ससुराल में पहली रात थी। रात को बारह बजे खिड़की से किसी ने सिसकारा—देखा तो गीता खड़ी थी।

"जीजाजी, जाग रहे हैं ?"

"मच्छर काट रहे हैं।"

"सो जाइए।"

"नींद नहीं आ रही है। न तुम...."

"जीजी नहीं आयेंगी।"

"क्यों ?"

"पिताजी की मनाही है।"

"इस मार्शल-ला का क्या मतलब है !"

"सवेरे पिताजी से पूछिएगा।"

गीता तो उड़न-छू हो गयी और श्वसुरजी को सुबुद्धि आये इसलिए मैं चार बजे तक गीता-पाठ करता रहा। जब कोई नहीं आया तो नींद से ही आँखें लगायीं। ठीक पाँच बजे किसी ने जगाया। पहले कन्धा पकड़कर झकझोरा तो मुझे ऐसा लगा कि कोई अहीर बाला मथनी के स्थान पर मुझे कुण्डे में खड़ा कर दूध बिलो रही है। मैंने आँखें नहीं खोलीं। दोबारा फिर किसी ने झटका दिया तो समूची खाट हिल गयी। मालूम हुआ कि भूकम्प आया है और कोई यक्ष मेरी पलंग उड़ाकर अफ़ग़ानिस्तान की ओर ले जा रहा है। तीसरे झटके में किसी ने उठाकर बिठा दिया। कानों में आवाज़ आयी—"अजीब लड़का है।" आँख खुली तो देखा सामने श्वसुरजी खड़े हैं। मैंने हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

"बहुत सोते हो। पाँच बजे बिस्तर छोड़ देना चाहिए।"

"जी, ट्रेन की थकावट थी, नहीं तो मैं रोज घर पर चार बजे ही उठ जाता हूँ।"

"अच्छा घूमने चलोगे ?"

"जी-जी—आज तो नहीं। ज़रा सरदी हुई है। अपनी बात की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए मैंने रूमाल के अन्दर नाक बजाकर दिखा दिया।

"अच्छा, अच्छा !'

श्वसुरजी से पीछा छूटा तो मैंने लिहाफ़ तानो। बीच में गीता आयी।

"जीजाजी उठिए, मुर्ग़ बोल रहे हैं।"

"मुर्ग़ों से कहो, अभी सवेरा नहीं हुआ है।"

मैंने सिर ढँक लिया। एक झपकी भी नहीं लगी थी कि किसी ने फिर

छेड़ा। कुछ देर तक चुप रहा और झपकियों के बीच झुँझलाता रहा। फिर 'उठो-उठो' का स्वर तीव्र हुआ तो मैं लिहाफ़ के अन्दर से ही बड़बड़ाया, "मुर्गों के मारे नींद हराम"—पर सामने देखा तो श्वसुरजी खड़े हैं।

"मुर्ग़-मुर्ग़ क्या कर रहे थे जी ?"

"जी, अभी-अभी मुर्गों का एक सपना देख रहा था।"

"मैं चार मील का चक्कर लगा आया। तुम अभी सो रहे हो। यह आदत ठीक नहीं।"

"रात मच्छरों ने सोने नहीं दिया।"

"तो मसहरी क्यों नहीं माँग ली ? गीता, ओ गीता, गीता" पुकारते हुए श्वसुरजी उधर गये तो मैंने बिस्तर से कूदकर सिगरेट जलायी और सोचने लगा कि अच्छे कटघरे में आकर फँसा हूँ। इतने में श्वसुरजी की आवाज़ आयी।

"गीता, यह तम्बाकू की बू आ रही है ? देख, बाहर कोई नौकर बीड़ी तो नहीं पी रहा है ? मैंने कितनी बार मना किया कि धुएँ से फेफड़ा खराब हो जाता है, पर कम्बख्त इतने जाहिल होते हैं कि इनकी समझ में नहीं आता।"

श्वसुरजी का वेद-वाक्य सुनते ही मैंने सिगरेट बुझायी और डिब्बी को छाती पर रखकर नाली में बहा दी। जबतक ससुराल में रहना है, यज्ञ के धुएँ के अतिरिक्त और कोई धूम्रपान सम्भव नहीं। मस्तिष्क की फ़ुल बेंच के निर्णय के आगे मैं विवश हो गया।

स्नानागार से निबटकर निकला तो सामने खड़ी गीता मुसकरा रही थी।

"कहिए कह दूँ पिताजी से सिगरेटवाली बात।"

"तुम्हारे पाँव पड़ूँ।"

गीता भाग गयी। कपड़े भी नहीं पहने थे कि श्वसुरजी का जलद-गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा—"बेटा नाश्ता किया ?"

"जी नहीं।"

"तुम्हारे जीवन में संयम-नियम के लिए भी कोई स्थान है ? जीवन का यह आदर्श तो ठीक नहीं।"

क्या उत्तर दूँ, मेरी समझ में नहीं आया इसलिए मौन रहा।

"न तुम्हारे सोने-जागने का नियम है न खाने-पीने का। इससे स्वास्थ्य-रक्षा सम्भव नहीं। शरीर की रक्षा नहीं हो सकती। तुम व्यायाम करते हो या नहीं ?"

"जी नहीं।"

"यह और बुरा है। तुम्हें खुली हवा में थोड़ी देर कसरत तो करनी ही चाहिए। और हाँ, प्राणायाम मैं बता दूँगा। दो-एक आसन भी तुम्हारे लिए उपयोगी होंगे। क्या बताऊँ, मेरा वश चले तो तुम्हें फिर से गुरुकुल भेज दूँ।" मैंने देखा पीछे खड़ी गीता मुसकरा रही थी। मैंने कहा—"गीता को आपने गुरुकुल नहीं भेजा ?"

"क्या बताऊँ, गीता बड़ी अभागी है। जिस साल इसे गुरुकुल भेजने जा रहा था, इसकी माँ चली गयी। फिर इन बच्चियों को घर से अलग करने का साहस नहीं किया।" जेलर साहब की आँखें आर्द्र हो चली थीं कि गीता ने टोका—"जीजा जी नाश्ता।"

"हाँ-हाँ ले आओ", श्वसुर साहब ने आदेश दिया।

"दूध ताज़ा पियोगे या गरम करवा दूँ ?"

"दूध नहीं, चाय पिऊँगा।"

"तुम लोगों की बुद्धि को क्या हो गया है ? अरे चाय ज़हर है ज़हर। अँगरेज़ ज़हर भी पिलाते हैं तो हिन्दुस्तानी अमृत समझकर पीना शुरू कर देते हैं। विलायती कम्पनियाँ जिस-जिस चीज़ का विज्ञापन करती हैं वही हम खाते-पीते हैं। ऐसी मानसिक ग़ुलामी ! फिर गान्धीजी कहते थे कि हम स्वराज्य के योग्य हो गये हैं।"

"चाय बुरी चीज़ तो है ही। मेरी भी कोई खास आदत नहीं, पर ज़रा सरदी की वजह से। खैर जाने दीजिए।"

"नहीं, नहीं, दवा के तौर पर लिया जा सकता है। गीता, ओ गीता !

ज़रा नौकर भेजकर चाय तो मँगा ले। अच्छा तुम नाश्ता करो, मैं ज़रा समाज मन्दिर चलता हूँ। स्वामी अभेदानन्द आये हैं। वेद के बहुत बड़े विद्वान् हैं। तुम्हें साथ ले चलता, पर खैर कल चलना। गीता, ओ गीता! दस बज गये और अभी नाश्ता भी खतम नहीं हुआ। हम लोग वक़्त की क़ीमत तो समझते नहीं। अच्छा हम चलें, तुम नाश्ता कर लो।"

श्वसुरजी ने पीठ फेरी तो मैंने नमस्कार किया। श्वसुरजी के जाने के बाद गीता चाय ले आयी। मैंने परदे की ओट से किसी को झाँकते हुए देखा। मैंने कहा—"गीता, मुझे तो अनुभव होता है कि मेरी शादी शायद तुम्हीं से हुई थी!

"वाह जीजाजी, जीजीजी कहाँ जायेंगी?"

गीता ने दरवाज़े के परदे की आड़ में खड़ी गायत्री देवी को कलाई पकड़कर घसीटती हुई मेरे बग़ल में कोच पर लाकर बिठा दिया।

"इनाम लाइए जीजाजी।"

"होली का इनाम बड़ा टेढ़ा होता है!"

"जाइए, आप बड़े वैसे हैं।"

गीता-गायत्री देवी के साथ हमने चाय पी। शाम को सिनेमा चलने का प्रोग्राम तय हुआ।

शाम को हम सब कपड़े पहनकर तैयार हुए तो गीता ने सूचना दी: "पिताजी, हम सब घूमने जा रहे हैं।"

श्वसुरजी ने मेरी ओर देखा।

"तुम भी जा रहे हो?"

"जी।"

"किधर जाओगे?"

"सिनेमा की तरफ़।"

"क्या कहा, सिनेमा देखने जा रहे हो, छि:!! सिनेमा भ्रष्टाचार और दुराचार के अड्डे हैं। मेरे सामने सिनेमा का कभी नाम न लेना। अच्छा है, तुम सब मेरे साथ चलो। आर्य समाज में साप्ताहिक सत्संग है। स्वामी

अभेदानन्द का भाषण है।"

सिनेमा से मुँह मोड़कर सब सत्संग की ओर चले। मुझे यह वेवक़्त की शहनाई और अप्रासंगिक सत्संग का प्रस्ताव अच्छा न लगा। सीढ़ियों से उतरते समय एकाएक उफ़ करके पेट दबाये हुए बैठ गया।

श्वसुरजी दौड़े आये।

"क्या बात है बेटा ?"

"उफ़, बड़े ज़ोरों से दर्द उठा है पिताजी।"

"पेट में दर्द है न। बेवक़्त नाश्ता, बेवक़्त भोजन। दर्द न हो तो क्या होगा। गीता, ज़रा लवणभास्कर चूर्ण की शीशी ढूँढ़ के लाना।"

श्वसुर के सहारे मैं कमरे में बिस्तर पर लेटाया गया। गीता ने लवण-भास्कर की फंकी लगवायी।

"दर्द कुछ कम है !"

"जी।"

"अच्छा तो आज तुम यहाँ आराम करो। मैं ज़रा समाज मन्दिर हो आऊँ।"

श्वसुरजी के जाते ही गीता मेरे सिर हो गयी।

"जीजाजी आप भी बड़ी औंधी खोपड़ी के आदमी हैं। सारा गुड़ गोबर कर दिया।"

"भई, मुझे क्या मालूम कि तुम्हारे पिताजी कब किस चीज़ से बिगड़ खड़े होंगे !"

"लेकिन आपने नाटक अच्छा किया !"

श्रीमती गायत्री देवी को विश्वास नहीं हुआ। मेरे पेट को हलके-से स्पर्श करती हुई बोलीं—"अब दर्द कैसा है ?"

"हलका-सा मीठा-मीठा-सा है। पेट में नहीं, अब आगे बढ़ गया है।" मैंने श्रीमतीजी की उँगलियों को पकड़कर अपनी छाती पर रख लिया। गीता खिलखिला उठी। श्रीमती जी ने शरमाकर हाथ खींच लिया।

रात को श्वसुर जी लौटे तो पूछा—

"दर्द कैसा है ?"

"जी, ठीक है।"

"रात को खाना मत खाना।"

"जी, खाना खा चुका हूँ।"

"पेट के दर्द के बाद खाना—कोई गँवार होता तो कुछ कहता भी। पढ़े-लिखे आदमी हो। रात को दर्द उभड़े तो परेशान होगे। अच्छा लवण-भास्कर की टिकिया अपने पास रख लो। दो अभी खा लो, दो रात को खाना।" गीता ने मेरे विस्तर पर लवणभास्कर की शीशी लाकर रख दी।

"तुम्हें नींद तो आती है।"

"कुछ शिकायत है।'

"तुम सोते समय सत्यार्थ-प्रकाश का समुल्लास पढ़ लिया करो। अच्छा रहेगा।"

श्वसुरजी आलमारी खोलकर एक मोटी-सी पुस्तक ले आये, गर्द झाड़कर मेरे हाथों में थमा दी। फिर बोले—

"तुम्हारी अवस्था पचीस साल की होगी।

"जी नहीं कुछ कम।"

"ठीक-ठीक बताओ।"

"चौबीस साल तीन महीने।"

"तुम्हें पूरे पचीस साल तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। अच्छा अब सोओ।"

श्वसुरजी के जाते ही सन्नाटा छा गया। गीता और गायत्री की आवाज़ तक सुनाई नहीं दी। पूरे बारह घण्टे बाद उल्लू का सवेरा हुआ।

सुबह-सवेरे गीता ने दर्शन दिया। पीछे-पीछे गायत्री देवी भी थीं। नयन-भर दर्शन कर मैंने आँख मूँद ली।

"पिताजी कहाँ हैं गीता ?"

"घूमने गये। रात कैसी कटी जीजाजी।"

"गीता-गायत्री की माला जपते-जपते ।"

"हम लोग भी आपके नाम की माला जप रहे थे। पर जीजाजी ! आपका नामकरण करने में बुद्धि का अधिक प्रयोग नहीं किया गया है। चूड़ामणि यह भी कोई नाम है। चूड़ा-मटर की खिचड़ी का-सा मज़ा आता है।"

"बात यह है कि सारी बुद्धि तो तुम्हारे पिताजी के पास चली आयी थी जो तुम लोगों के नामकरण में खर्च कर दी गयी।"

"हम लोगों का नाम बुरा है क्या ?"

"नहीं जी। पर गीता देवी गायत्री देवी का जोड़ा रामायणलाल महाभारतप्रसाद, सत्यार्थप्रकाश से ही मिल सकता था। मैं तो ज़रा बेतुका पड़ता हूँ। बात यह है कि न तो मेरा जन्म जेल में हुआ है न मेरे पिता जेलर थे।"

"आप तो नाराज़ हो गये।"

"नाराज़ नहीं हूँगा। आज होली है। ससुराल आया था। सोचा था तुम दोनों से होली खेलूँगा, रंग से सराबोर करूँगा, पर यहाँ रंग की कौन कहे, होली के दिन एक बूँद आँसू गिराना भी मना है। ऐसे होली से तो मुहर्रम अच्छा है।"

"पिताजी रंग से नाराज़ होते हैं।"

"तुम्हारे पिताजी हैं। किसी दूसरे के पिताजी होते तो कुछ कहता।"

"नाराज़ तो हैं ही, पर आपको मनाने की भी कोई तरकीब।"

"हाँ, एक तरकीब है, कल शाम को जाऊँगा। तुम्हारी जीजी को साथ जाना चाहिए। यदि तुम पिताजी से अनुमति ले सको तो...."

"क्या इनाम दीजिएगा ?"

"वही होली का इनाम।"

"जाइए।"

"इतने में खड़ाऊँ खटखटाते श्वसुरजी आ गये। मेरे हाथों में एक मोटी-सी पुस्तक थमाते हुए बोले—'अभेदानन्द की नयी पुस्तक है, आत्म-

दर्शन। जर्मनी से छपकर आयी है। ज़रा देखो तो।"

"पिताजी, आपके ऊपर रंग किसने डाल दिया!"

"क्या बताऊँ ऐसे असभ्य गँवार लड़कों से पाला पड़ा है। लाख बिगड़ने पर भी कम्बख्त कपड़ा खराब कर ही गये। ठण्डा पानी उड़ेलने का न जाने यह कैसा त्यौहार है। सरदी-ज़ुकाम हो जाये, न्यूमोनिया हो ज़ाये तो सैकड़ों बिगड़ जायें। फिर कपड़े की इस तंगी में रंग डालना मूर्खता है, मूर्खता।"

क़रीब दो घण्टे बाद नहा-धोकर लौटा तो श्वसुरजी का पहला प्रश्न हुआ—

"पुस्तक देखी?"

"जी हाँ।"

"क्या पढ़ा बताओ"

"बहुत अच्छी पुस्तक है।"

"सो तो मैं भी जानता हूँ। पढ़ा क्या?"

"पढ़ा नहीं, बाहर से देखा-भर है।"

"हूँ, लाओ मुझे दो। उपन्यास होता तो अबतक चट कर जाते।"

थोड़ी देर बाद बोले—

"तुम्हारा पेट खराब है, इसलिए मूँग की खिचड़ी बनवायी है। खाओगे न?"

"जी, इच्छा तो नहीं है"

"तब मत खाओ। त्योहार का दिन है। जान-बूझकर तबीयत खराब करना ठीक नहीं।"

वाह री क़िस्मत। होली में मूँग की खिचड़ी भी नसीब में नहीं। अल्लाह तेरी क़ुदरत। ससुराल तेरी न्यामत।

मैं अभी पेट के चूहों की कसरत ही देख रहा था कि गीता थाली लगाकर ले आयी।

"थोड़ा-सा खा लीजिए जीजाजी।"

"ले आयी हैं तो खा ही लो।" श्वसुरजी ने भी व्यवस्था दी।

मैंने हाथ बढ़ाया। थोड़ी-सी खिचड़ी पेट में उतरी। होली के पकवानों की याद आयी तो हाथ रुक गया। भूख को लात मारकर मैंने थाली हटा दी। किसी ने कुछ नहीं कहा। नौकर थाली उठा ले गया।

थोड़ी देर में एक तश्तरी लिये हुए गीता आयी। आज नयी बात है जो चार दिनों बाद पान-सुपारी के दर्शन हो रहे हैं।

"लीजिए जीजाजी।"

मैंने तश्तरी की ओर हाथ बढ़ाया तो देखा पान के स्थान पर टिकिया।

"यह क्या है?"

"लवणभास्कर की टिकिया।"

"दो-चार खा लो। नहीं तो पेट में फिर दर्द हो जायेगा।"

इच्छा न होते हुए भी लवणभास्कर की टिकिया मुख में रखकर चुभलाने लगा। गीता कनखियों में मुसकराहट लिये हुए चली गयी। इधर मेरी झुँझलाहट बढ़ती जा रही थी।

श्वसुरजी आराम-कुरसी पर 'आत्मदर्शन' में आनन्द-विभोर हो रहे थे। मुझे खाली देख कुछ आध्यात्मिक उपदेश प्रारम्भ ही करनेवाले थे कि मैं खाँसी के बहाने उठकर स्नानागार के कमरे में चला गया। वहाँ से चुपके-से गीता के कमरे में आया। गायत्री देवी भी वहीं थीं।

"भाई, मुझे बरेली जेल से मुक्ति दोगी कि नहीं? या अनशन करना होगा।"

"बड़ी जल्दी घबरा गये जीजाजी।"

"नहीं गीता, मेरी इच्छा हो रही है कि यहाँ से भाग जाऊँ। मेरा साथ दोगी?"

"नहीं, जीजी को ले जाइए।"

"अच्छा तो अपना वादा पूरा करो।"

गीता ड्राइंग-रूम में चली गयी।

"पिताजी।"

मैं और गायत्री देवी दरवाज़े को सूराख से अपने भाग्य-निर्णय का फ़ैसला सुन रहे थे।

पिताजी ने आत्मदर्शन में डूबा हुआ गम्भीर चेहरा ऊपर उठाया।

"क्या है गीता ?"

"जीजाजी जीजी को अपने साथ ले जाने के लिए कह रहे हैं।"

"नहीं, उम्र में अभी दस महीने बाक़ी हैं। हम धर्म-पुस्तकों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते।"

सुनते ही दिल बैठ गया। मैंने गायत्री देवी की ओर देखा और उन्होंने मेरी ओर। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। ग़लती मेरी ही थी जो श्वसुरजी को सही उम्र बताने गया। मुझे क्या मालूम था कि मेरी उम्र का प्रयोग मुझी पर ज़बरदस्ती किया जायेगा। ख़ैर, ग़लती हो ही गयी।

गीता निराश लौट आयी।

"और कोई तरकीब है गीता ?"

"नहीं जीजाजी।"

श्वसुर की जिह्वा सचमुच अखण्ड शिला निकली जिससे टकराकर मैं बैरंग घर वापस आया। कहने को मैं ससुराल में होली मनाने गया था। पर अनुभव यह होता है कि बरेली जेल की हवा खाकर लौटा हूँ।

धर्म-संकट

□

वे दो थे, पर एक बात में एकमत थे। वह यह कि पूँजीवाद, समाजवाद और सम्प्रदायवाद—सब वाद-विवाद हैं, इसलिए वाद हैं, और सबसे अधिक निर्विवाद हैं।

उन दोनों में एक बिना किसी भेदभाव के हिन्दू था और दूसरा मुसलमान। एक का नाम ललित था, दूसरे का हमीद।

दोनों कभी एक साथ पढ़ते थे और अब एक साथ बेकार थे—अवसरवादी बेकार। कहने का मतलब यह है कि वे आराम के साथ बेकार थे।

वे तो दो थे ही।

ये भी दो थीं—

शायद इसीलिए कि दोनों के नामों में बहुत मेल था : आशा और आयशा। धार्मिक विभिन्नता को घर में छोड़कर, कॉलेज में दो सगी बहनों की भाँति समय व्यतीत करती थीं। परिणाम यह हुआ कि जो हिन्दू थी वह एक मुस्लिम युवक की सच्चरित्रता से प्रभावित हो गयी और जो मुसलमान थी वह एक हिन्दू युवक के सदाचार पर लट्टू हो गयी।

आशा ने आयशा को अपने भेद की बात बतलायी, "मैं चाहूँगी कि मेरा विवाह हो तो हमीद-जैसे हीरे के साथ हो!"

और आयशा ने अपने हृदय का रहस्य आशा को बतलाया, "काश मेरी शादी ललित-जैसे लाल से हो सकती!"

कहना न होगा कि प्रत्येक ने अपने-अपने हृदयोद्गार के महत्त्व को लम्बी-लम्बी साँसों से और भी बढ़ा दिया था। दुख की बात यह थी कि इच्छाएँ थीं, मार्ग न थे। हाय री मजबूरी! इतने उन्नत विचारों को लेकर

वे किसी आवश्यकता से अधिक उन्नत देश में क्यों न पैदा हुईं ?

आशा ने आयशा को बतलाया, "उस दिन मैं अपने कमरे में बैठी हुई क़ुरान शरीफ़ के अँगरेज़ी अनुवाद का अध्ययन कर रही थी कि इतने में बाहरी बैठक में एक युवक आज्ञा लेकर आया और बड़े अदब से पिताजी के पास बैठ गया। फिर नम्रतापूर्वक बोला, "मैं आपको पहले से ही यह बतला देना चाहता हूँ कि मैं मुसलमान हूँ, मुझे लोग हमीद कहते हैं। आपकी ख़िदमत में एक छोटी-सी दरख्वास्त लेकर हाज़िर हूँ पण्डितजी।" पिताजी ने पूछा तो उसने बतलाया—'हमारे मुहल्ले के कुछ हिन्दू भाई अखण्ड कीर्तन करना चाहते हैं और मैं तहेदिल से इसकी ताईद करता हूँ, इसलिए कीर्तन के लिए चन्दा करने निकला हूँ। मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना, इस बात का इकट्ठा क़ायल हूँ!' इसपर मेरे पिताजी ने गद्‌गद होकर हमीद को दो रुपये दिये और मैंने भी ऐसे होनहार युवक को परदे की आड़ से प्रशंसा की दृष्टि से देखा।"

"ठीक ऐसी ही बात मेरे साथ भी हुई है," आयशा बोल पड़ी। "इत्तिफ़ाक़ हो तो ऐसा। जब ललित मेरे वालिद से इजाज़त लेकर अन्दर आया और आकर बैठक में मेरे वालिदजान के क़रीब सोफ़े पर बैठ गया तब मैं बग़लवाले कमरे में बैठी गीता का अँगरेज़ी तरजुमा पढ़ रही थी। निहायत आजिज़ी के साथ ललित ने अब्बाजान से कहा, 'मौलाना साहब, वैसे तो मैं हिन्दू हूँ, मेरा नाम ललित है, पर मैं धार्मिक झगड़ों को ठीक नहीं समझता। मेरे मुहल्ले में कुछ मुसलमान भाई मौलाद शरीफ़ का आयोजन कर रहे हैं और मैं हिन्दू होकर भी उसके लिए चन्दा इकट्ठा कर रहा हूँ। क्या यह बुरी बात है?" कहने की देर थी, मेरे अच्छे अब्बा ने फ़ौरन तीन रुपये ललित के हवाले किये और उसकी पीठ ठोंकी। शरीफ़ज़ादे ललित और अपने बीच में पड़े दरवाज़े के परदे को मैंने ज़रा-सा खिसकाकर देखा तो तूर के उस नूर को मैं तबतक देखती ही रह गयी जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गया और कमरे में अँधेरा नहीं छा गया।"

दोनों लड़कियों ने एक स्वर से स्वीकार किया कि भारत और पाकिस्तान में ऐसे उदार-हृदय नवयुवक टार्च लेकर खोजने पर भी न मिलेंगे।

आशा ने आह भरी, "मैं अभागिन हूँ।"

आयशा भी पीछे नहीं रह सकी। ठीक नाप-तोल की उतनी ही लम्बी और उतनी ही भारी आह भरकर बोली, "मैं भी कितनी बदक़िस्मत हूँ!"

आशा ने कहा, "हाय, हमीद, तुम हिन्दू न हुए, नहीं तो....।"

आयशा ने कहा, "आह, ज़ालिम ललित, तुम मुसलमान न हुए वरना....।"

मुँह की बात गले में अटककर रह सकती थी, पर मन की मन में नहीं रह सकती थी।

आशा को स्पष्ट रूप से कहना पड़ा, "तब मैं ही हमीद के लिए मुसलमान हो जाऊँगी और कोई उपाय नहीं।"

आयशा ने भी साफ़-साफ़ कह दिया, "तब मैं ही ललित की खातिर हिन्दू हो जाऊँगी। दूसरा चारा नहीं।"

एक साथ दोनों में सुबुद्धि का उदय भी हुआ।

"ठहरो," आशा बोल पड़ी, "मैं ऐसा न होने दूँगी। यह कितनी बुरी बात होगी, तुम्हारे अब्बा क्या सोचेंगे और उनकी कितनी हँसी होगी।"

"हाँ," आयशा ने कहा, "तुम्हारे बूढ़े वालिद के दिल को बड़ा सदमा पहुँचेगा। वे किसी को मुँह दिखलाने के क़ाबिल न रह जायेंगे।"

आशा ने पूछा, "फिर?"

आयशा ने पूछा, "तब?"

आशा ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हारे लिए बड़ा त्याग कर सकती हूँ।"

आयशा ने भी उत्तर दिया, "मैं भी तुम्हारे लिए बड़ी से बड़ी क़ुरबानी कर सकती हूँ।"

आशा बोली, "मैं अपने कलेजे पर पत्थर रखकर अपने हमीद को तुम्हारे लिए सुरक्षित रहने दूँगी।"

आयशा बोली, "और मैं अपने दिल का गला दबाकर अपने ललित को तुम्हारे लिए छोड़ दूँगी, तुम्हें सौंप दूँगी।"

आशा ने आयशा को समझाया, "तुम्हें दुख न होना चाहिए। हमीद के रूप में तुम्हें दूसरा ललित प्राप्त हो जायेगा।"

आयशा ने आशा के आँसू पोंछे, "तुम्हें दिल छोटा न करना चाहिए। तुम्हें दूसरा हमीद मिल जायेगा।"

इस समझौते से और कुछ नहीं हुआ तो कम से कम इतना तो हो ही गया कि धर्म-परिवर्तन की नौबत आने की जो सम्भावना थी, वह दूर हो गयी।

परन्तु अब नयी कठिनाई उपस्थित हुई। न तो आशा को अपने हमीद का पता-ठिकाना ज्ञात था कि वह उसे आयशा के सुपुर्द करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकती, न आयशा को अपने ललित का पता मालूम था कि वह उसे आशा से मिलाकर अपने वादे से छुट्टी पा लेती।

इस प्रकार दोनों में से प्रत्येक की धरोहर बहुत दिनों तक धरोहर ही बनी रही। किन्तु, 'जिन खोजा, तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।'

वह दिन भी कितना स्वर्णिम था जब वे दोनों एक साथ सिनेमा देखने गयी हुई थीं। वैसे दोनों ही सिनेमा देखना बुरा समझती थीं। यह सरासर उनके आदर्श के विरुद्ध था। पर जो नया खेल लगा था उसका नाम 'एकता' था, इसलिए यह बात और थी। फिर भी उन्होंने एकता के सम्बन्ध में पूरी एहतियात बरती और ज़नाने दरजे के टिकट लिये।

अभी वे अपनी-अपनी सीट पर बैठी ही थीं कि आशा की दृष्टि नीचे हॉल में गयी और वह एक बार चौंककर फिर हर्षातिरेक से विह्वल होकर बोली, "उधर देखो, उस सीट पर वह जो युवक बैठा हुआ है वही मेरा हमीद है जो अब तुम्हारा होनेवाला है।"

आयशा भी आशा से कम आश्चर्यान्वित नहीं हुई और खुशी से पागल होकर बोली, "हाँ, देखो न, जो युवक बग़ल में बैठा है वह और

कोई नहीं, मेरा ललित है जो अब तुम्हारा होने को है।"

दोनों ने बिलकुल देरी नहीं की। वे उठकर गयीं और बुकिंग क्लर्क की फटी-फटी-सी आँखों की चिन्ता न करके, उन्होंने अपने टिकट बदलवाये। फिर दोनों सीधे मरदाने दरजे में जा बैठीं—हमीद और ललित के ठीक पीछे। पहले तो आशा हमीद के पीछेवाली सीट पर बैठी और आयशा ललित के पीछेवाली सीट पर बैठ गयी पर तुरन्त ही दोनों ने सीटें बदलकर अपनी-अपनी भूल सुधार ली। आशा ललित के पीछे बैठ गयी और आयशा हमीद के पीछे। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय दोनों लड़कियों के कलेजे बाँसों उछल रहे थे। इसकी पुष्टि करने के लिए शायद किसी डॉक्टर की आवश्यकता नहीं थी। दोनों में से एक की भी समझ में सहसा यह नहीं आ रहा था कि ऐसी स्थिति में क्या कहना चाहिए और क्या करना चाहिए। उनके हृदय अपने-अपने कारागार को तोड़-फोड़कर आकाश में विचरण करने जा रहे थे लेकिन मुँहों पर फिर भी ताले लगे हुए थे। निश्चय ही यह बड़ा विकट गत्यवरोध था, जिसने दो अबलाओं को किंकर्तव्य-विमूढ़ कर दिया। जब और कुछ नहीं सूझा, तब वे बेचारियाँ मन ही मन दोनों आदर्शवादी चरित्रनायकों को अपने-अपने धर्म के अनुसार प्रणाम और सलाम करके कुछ नहीं तो उनकी सुमधुर वाणी का ही रसास्वादन करने लगीं और इस प्रकार अपने को धन्य मानकर कुछ सन्तोष का अनुभव करने के लिए तैयार हो गयीं। पर्वत न सही तो पर्वत की छाया ही सही!

हमीद और ललित आपस में ही बातें करने में तल्लीन थे। उन्होंने सिर मोड़कर, आँखें उठाकर अपने पीछे देखा तक नहीं। वे अपने में ही खोये हुए थे। फिर उनकी आदर्शवादिता उन्हें इधर-उधर ताक-झाँक करने की आज्ञा नहीं दे सकती थी।

यदि हम इसे उनके चरित्र की दृढ़ता कहते हैं तो हमें यह न भूलना चाहिए कि आशा और आयशा भी चरित्र की दृढ़ता के मामले में कम न थीं। किन्तु आज उन्हें चरित्र की यह अनावश्यक दृढ़ता दोनों युवकों की

ओर से बुरी तरह खलकर रही ।

अस्तु !

हमीद ने अँगड़ाई लेकर कहा, "पता नहीं यह पिक्चर कैसी है ।"

"नाम तो अच्छा है", ललित बोला, "एकता—वाह !"

"एकता के लिए हम दोनों जो कोशिश कर रहे हैं, जो ज़ोर लगा रहे हैं, उसकी तसवीर नहीं खिंच सकती ।"

"अजी, ज़ोर ही नहीं लगा रहे हैं", ललित ने कहा, "जान लड़ाये दे रहे हैं ।"

"ठीक है", हमीद ने ललित का हाथ दबाकर कहा, "मगर हम दुनिया को दिखलाते तो फिरते नहीं कि हम क्या कर रहे हैं ।"

कहना न होगा कि पीछे बैठी दोनों लड़कियाँ दोनों युवक-शिरोमणियों के मुखारविन्दों से निकले वचनामृत के प्रत्येक शब्द को, नहीं-नहीं, प्रत्येक अक्षर को कान लगाकर सुन रही थीं, यद्यपि दोनों मित्र अपने में ही बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे ।

"दुनिया अन्धी है", ललित ने दावे के साथ कहा ।

और आयशा को यह बात अक्षरशः सत्य लगी । यह दुनिया व्यक्ति का वास्तविक मूल्यांकन कब करती है ?

"हमें इससे क्या ग़रज़ ?" हमीद ने एक दार्शनिक की भाँति गम्भीर होकर कहा, "हमें तो अपने काम से काम है ।"

और यह बात आशा के अन्तस्तल में किसी तपस्वी की सूक्ति बनकर उतरी और उतरकर बैठ गयी । बस, अपने काम से काम रखना—यही तो कर्मठ मनुष्य का लक्षण है । भगवान् कृष्ण का कथन भी आशा को याद आ गया कि फल की चिन्ता न करके कर्म करना चाहिए ।

दोनों लड़कियों ने सोचने को तो यह सोच लिया; किन्तु शीघ्र ही दोनों ने मन ही मन अपनी भूल, भूल से उत्पन्न लज्जा और लज्जा से उत्पन्न ग्लानि का अनुभव किया । यदि आयशा को ललित की किसी बात पर कान न देना चाहिए था तो आशा को हमीद के किसी विचार

पर ध्यान न देना चाहिए था। यह अनधिकार चेष्टा थी। जो एक बार वर्जित, वह सदा के लिए त्याज्य ! वे अपना समझौता आप ही नहीं भंग कर सकती थीं।

उधर हमीद और ललित अपने पीछे उमड़ने-घुमड़नेवाली सीमा-बद्ध आँधियों की क्रियाशीलता से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

हमीद ने ललित से पूछा, "आज तुमने कितना चन्दा इकट्ठा किया ?"

"सात रुपये", ललित ने कहा।

यह सुनकर आयशा ने लाखों पाये।

"और तुमने ?" ललित ने पूछा।

"कुल मिलाकर बाईस रुपये मिले", हमीद ने उत्तर दिया।

आशा पुलकित होकर सोचने लगी—धन्य है, हमारे उन्होंने बाज़ी मार ली।

"शाबाश !" ललित बोला, "लम्बा हाथ मारा ! पर कैसे ? मैं भी तो सुनूँ।"

आशा को ललित की यह बात बहुत बुरी लगी—बड़ा नीच है यह ललित जो ऐसी ओछी बात मुँह से निकालता है ! धार्मिक एकता के लिए चन्दा इकट्ठा करना क्या कभी हाथ मारना माना जा सकता है ?

"इतना भी नहीं समझ सके तुम ?" हमीद ने कहा, "बड़े बुद्धू हो।"

आयशा को हमीद पर बड़ा क्रोध आया। ललित-जैसा विचारवान् युवक कभी बुद्धू कैसे हो सकता था ?

"कुछ बतलाओ तो समझूँ भी उस्ताद", ललित ने कहा।

"आज मैं बिलकुल नये मुहल्ले में गया था", हमीद बोला। "वहाँ मुझे कई शिकार आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे मिल गये। क्या समझे ?"

इसका क्या मतलब था ? आशा को ठहरकर सोचना पड़ा। उसके सुनने में ही कुछ भूल हो सकती थी।

"ठीक है", ललित बोला। "इस प्रकार हम दोनों में से प्रत्येक के हिस्से में साढ़े चौदह रुपये पड़े। यह कुछ कम नहीं है।"

यह क्या मामला था ? आयशा चक्कर में पड़ गयी। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि उसके कान धोखा खा गये थे ?

"कभी कम, कभी ज़्यादा", हमीद ने कहा। "यह हाथ लगने की बात है। हमें कभी घाटा होने का कोई डर तो है ही नहीं कि हम परेशान हों।"

"हमीं मज़े में हैं", ललित बोला। "हर्र लगे न फिटकरी, फिर भी रंग चोखा !"

"कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती", हमीद ने कहा, "और फिर भी मौज से कटती है।"

हतबुद्धि आशा और आयशा की समझ में उन दोनों की ये बातें बिलकुल नहीं आ रही थीं। एक भ्रमित थी तो दूसरी चकित !

ललित ने चाय और नमकीनवाले लड़के को आवाज़ दे कहा, "बने रहो मौलाना !"

इतने में उन्हें अपने पीछे रेशमी कपड़ों की सरसराहट सुनाई पड़ी। दोनों ने एक साथ सिर पीछे की ओर मोड़े। ललित आयशा के रूप-माधुर्य को देखकर दंग रह गया तो हमीद आशा के रूप-लावण्य को देखकर। दोनों के मुँहों से एक साथ सीटी की दो हलकी ध्वनियाँ फूट पड़ीं। फिर एक के मुँह से "वाह !" और दूसरे के मुँह से "ग़ज़ब है !" ध्वनित हुआ।

किन्तु बहुत देर हो चुकी थी। कहा भी जाता है कि सौन्दर्य अधिक समय तक नहीं ठहरता।

एक बार फिर बुकिंग क्लर्क की आँखें फटी की फटी रह गयीं। उसे दो टिकट दो बार बदलने पड़े—इस बार ज़नाने दरजे के लिए। उसने अपने मन में कहा, "आजकल की इन छोकरियों का कुछ ठिकाना नहीं। पल में कुछ, पल में कुछ ! कभी मरदाना दरजा प्राप्त करना चाहती हैं कभी ज़नाना। ऊपर ईश्वर की और नीचे इनकी लीला अपरम्पार है।"

□ □

बोर : एक दर्शन

□

'टेल्व बोर' एक बन्दूक़ होती है, लेकिन 'बोर' एक तोप होती है। दुनिया के हर कोने में, हर जाति में बोर पाया जाता है। न्यूयॉर्क की भीड़-भाड़ में भी बोर मिलेंगे और उत्तरी ध्रुव के वीराने में भी। कश्मीर के उद्यानों में भी बोर मिलते हैं और सहारा के रेगिस्तानों में भी। और मेरा विश्वास है कि शेरपा तेनज़िंग के साथ जो दल गौरीशंकर की चोटी तक पहुँच गया था उसमें भी एकाध बोर ज़रूर होगा जो रास्ते में बाक़ी लोगों को तंग करता गया होगा। कवि बायरन तो यहाँ तक कह गया है कि :

Society now is a polished horde—composed of two mighty tribes, the bores and the bored.

मैं बोर को दुनिया का सबसे हिंसक प्राणी मानता हूँ। अगर किसी जघन्य अपराधी को दण्ड देना है तो उसे चन्द घण्टे किसी बोर के हवाले कर दीजिए। ज़िन्दगी-भर के लिए सबक़ सीख जायेगा। अगर किसी को हमारी हत्या करनी हो तो हमें किसी बोर के साथ किसी कमरे में चार-छह घण्टे बन्द कर दीजिए, दरवाज़ा खोलने पर हम मरे मिलेंगे। कोई गुण्डा सड़क पर आपपर हमला करे तो आप चिल्लाइए और रक्षा के लिए पुलिस हाज़िर। पर बोर आपपर दिन-दहाड़े आक्रमण करे, घण्टों ज़ुल्म ढाये, मगर आपकी सहायता के लिए न क़ानून न पुलिस। भूत भगाने के लिए तो हनुमान चालीसा भी है—बोर को भगाने के लिए न तन्त्र है न मन्त्र।

बोर के भी कई प्रकार होते हैं। पहला है बकवादी बोर (talkative bore)—जो घण्टों आपके पास बैठकर दुनिया के हर विषय पर बके

और आपको केवल 'हूँ' कहने को मौक़ा दे।

मौन वोर (silent bore) यह घण्टों आपके पास बैठेगा, पर वोलेगा नहीं। बीच-बीच में अपने आपसे ऊबकर जम्हाई लेगा और कहेगा.... "हाँ और क्या समाचार है ?" आप कोई समाचार नहीं कहेंगे, पर वह यह मानकर कि आपने कुछ समाचार कहा है दस मिनट वाद फिर कहेगा...."हाँ, और क्या समाचार है ?"

जिज्ञासु वोर (inquiritive bore) यह आपके पास बैठकर तरह-तरह के सवाल पूछकर प्राण ले लेगा। एक साँस में पूछेगा "वेदान्त दर्शन की माया और सांख्य दर्शन की प्रकृति में क्या साम्य है ?" और दूसरे ही क्षण पूछेगा...."क्यों साहब, नरगिस का क्या पता है ?"

साहित्यिक वोर (literary bore)—इस वर्ग में कवि और लेखक आते हैं। इन्हें श्रोता को देखकर वही खुशी होती है जो भूखे आदमी को छप्पन प्रकार के भोजन की थाली को देखकर।

चापलूस वोर (flattering bore)—यह बड़ा खतरनाक होता है क्योंकि यह वड़ा मोहक होता है, इसलिए कि यह आपकी तारीफ़ करता है। इसकी पहचान यह है कि यह हमेशा दाँत निपोरता रहता है। और इसके मुख से अकसर हें....हें....हें....शब्द निकलता है। यह आपकी छींक को भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटना वतायेगा और कहेगा कि एक वार गौतम बुद्ध को भी ऐसी ही छींक आयी थी।

मधुर वोर (sweet bore)—याने वह रूपवती कोमलांगी जिसका रूप आकर्षक हो और वातचीत निहायत रद्दी। इसके प्रहार से पैंतरे वदलकर बचना चाहिए। उसकी बात सुनने और खूब दिलचस्पी लेने का नाट्य करते हुए उसका वात बिल्कुल न सुनकर रूप-सुधा का पान करते जाना चाहिए।

रिटायर्ड वोर (retired bore) वे अवकाश-प्राप्त सरकारी कर्मचारी हैं जो आपस में एक-दूसरे को बोर करके समय काटते हैं। बेटा और बहू की निन्दा करते हैं.... "क्या बतायें तिवारीजी, लड़का नालायक़

निकल गया। औरत के कहने में चलता है और वह हमारी बहू, हमारी चोरी से हलुआ बनाकर खा लेती है।"

आक्रमणी बोर (aggressive bore)—यह चीते की तरह चालाकी से हमला करता है। सड़क पर आपको जाते देखकर यह चुपचाप पीछा करेगा। और जहाँ आप रुके कि इसने आक्रमण किया। एक आक्रमणी बोर से मैं अकसर परेशान रहता हूँ। वह मेरा हाथ पकड़ लेता है, बात करते-करते आगे बढ़ता जाता है, और थोड़ी देर में उसका एक पाँव मेरे पाँव पर होता है, उसका मुख मेरे मुख पर और उसके मुख के थूक के कण मेरे मस्तक का अभिषेक करते हैं।

सार्वजनिक बोर (public bore)—के वर्ग में भाषणबाज़ नेता होते हैं जो 'गान्धी मैदान' और 'तिलकभूमि' में सार्वजनिक रूप से बोर करते हैं।

एक नया प्रकार पिछले हफ़्ते ही मिला। एक मित्र के यहाँ मैं गया तो मकानके दूसरे हिस्से में दीवार के उस पार दो व्यक्ति बातें करते मिले। एक महाराष्ट्र ब्राह्मण, दूसरा पंजाब का जाट। मैंने मित्र से पूछा, "क्यों भाई यह सहअस्तित्व कैसा ?" उन्होंने कहा "दोनों बड़े दुखी हैं....न इन्हें श्रोता मिलता है न उन्हें। इसलिए परस्पर घण्टों बोर करते हैं। इतवार को दोनों भेड़ाघाट जाते हैं और वहाँ रम्य प्रकृति की छवि के बीच परस्पर बोर करते हैं।" उनमें एक, जिसने कभी चूहा नहीं मारा था, शेर के शिकार का अनुभव सुनाता था और दूसरा, जिसके खाने का ठिकाना नहीं था, हवाई जहाज़ की दूकान खोलने की बात करता था। पर इस सबका बादशाह होता है बोर डिलक्स (bore de-luxe)—याने वह बड़ा आदमी जिसकी बात छोटे आदमी मजबूरन सुनते हैं। यह रोब गाँठकर बोर करता है। इसमें आते हैं उद्घाटन-भाषण देनेवाले लोग, महाकवि, महा-संगीतज्ञ, मन्त्री, महानेता और बड़े अफ़सर।

ज़िन्दगी में कई बोर मिले हैं, लेकिन कुछ वर्ष पहले एक ऐसे मिले थे जिनकी याद करके मैं अभी भी चौंक उठता हूँ। मुझे शहर में आये थोड़ा

ही समय हुआ था कि वे मुझे सूँघते हुए एक दिन आ पहुँचे। अपना परिचय दे डाला और मेरा ले डाला। इसके बाद तो वे कभी भी आ जाते। कई चाँदनी रातें बरबाद कीं उन्होंने मेरी। जितना दुख उन्होंने मुझे दिया उसका एक-तिहाई ही बेचारे रावण ने ऋषियों को पहुँचाया था कि राम का अवतार हो गया, पर मेरे लिए एक वानर तक न भेजा गया! लेकिन मुझे राम का संकोच समझ में आया। अगर वे अवतार भी ले लेते तो सीता की खोज करने तथा रावण से लड़ने के लिए उन्हें एक बन्दर भी न मिलता क्योंकि सब बन्दर इस बोर की तरफ़ हो जाते—अपने वंश का जानकर।

वे कवि थे, लेखक थे, आलोचक थे और 'मिशनरी बोर' थे। कपड़े अस्त-व्यस्त, दाढ़ी बढ़ी हुई, बाल लम्बे और रूखे, चप्पलें टूटीं, बग़ल में किताबें। सड़क पर चलते तो लगता कि वनमानुष स्टेज पर आदमी की नक़ल कर रहा है। नाम था मदन जिसका अर्थ नागरी प्रचारिणी के हिन्दी शब्दकोष के पृष्ठ २१८ पर कामदेव लिखा है पर आप इन्हें देखें तो आपको लगे कि ये जैसा नाम वैसा गुण इस कहावत के मुँह पर कसकर चाँटा मार रहे हैं। उनका ख़याल था कि जो कलाकार जितनी अजब शक्ल का होगा वह उतना ही महान् होगा। और इस स्टैण्डर्ड से मदनजी दुनिया के सबसे महान् कलाकार हुए क्योंकि उन्हें देखकर उन्हीं के घर का कुत्ता भौंकने लगता था।

वे कविता गाते थे—बहुत रसविभोर होकर। स्वर की क्या बात है! ऐसा स्वर था कि मुझे लगता था, हिज़ मास्टर्स वॉयस रेकॉर्ड कम्पनी के रेकॉर्डों पर श्रोता के स्थान पर मदनजी की फ़ोटो क्यों नहीं छपती?

संसार-भर के विषयों पर वे बातें करते थे। संसार की सब भाषाओं की किताबें उन्होंने पढ़ी थीं। किसी भी किताब का नाम लीजिए, वे कहेंगे...."हाँ हमने पढ़ी है। अच्छी है।" एक बार अँगरेज़ी लेखक स्कॉट पर बातें हो रही थीं। किसी ने पूछा, "मदनजी आपने' स्कॉटस् इमल्शन' पढ़ा है?" मदनजी बोले, "वाह भला स्कॉटस् इमल्शन हमसे छूट सकती

है ? कॉलेज में ही पढ़ ली थी। स्कॉट की कला इमल्शन में ही चरमविन्दु पर पहुँची है।"

मेरा नया परिचय था। एक इतवार को मैं सुबह लगभग नौ बजे वाल कटाने जा रहा था कि आप चौराहे पर मिल गये। देखते ही नागफनी के काँटे की तरह खिलकर बोले, "वाह-वाह, आपके तो सवेरे-सवेरे ही दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो गया!" होगा उनका सौभाग्य; मेरी ज़िन्दगी में तो वैसा अभागा दिन कभी नहीं उगा। वे बातें करने लगे। पहले मैंने उनकी वात का जवाव एक-एक पैराग्राफ़ में दिया, फिर संयुक्त वाक्य में, फिर साधारण वाक्य में, फिर केवल क्रिया और संज्ञा में। फिर केवल क्रिया बोलने लगा। फिर केवल 'हाँ' या 'नहीं'। फिर केवल 'हूँ'। आखिर मौन हो गया। पर उनका उत्साह कम न हुआ। एक-डेढ़ घण्टे बाद वे बोले, "चलिए चाय पियें।" वे किसी को मुफ़्त में बोर नहीं करते थे। 'पेमेण्ट' करके बोर करते थे, चाय-नाश्ता देते थे। चाय पी। फिर एक घण्टा बातचीत का दूसरा दौर चला।

आखिर मैंने कहा, "मुझे बाल कटाने जाना है।" वे बोले, "चलिए मैं भी वहीं बैठूँगा। बहुत दिनों बाद तो सत्संग हुआ है।" वे अब शरच्चन्द्र पर बोल रहे थे। मैंने जाने किस मनहूस सभा में कह दिया था, "शरत् के पात्र हम-तुम-जैसे मानव कम लगते हैं।" आज सोचता हूँ कि मैंने यह क्यों कह दिया? मैं गूँगा क्यों नहीं हो गया। इस वाक्य से उन्हें बिजली छू गयी। बहुत उत्तेजित होकर बोले, "यह क्या कहते हैं आप! शरत् पर लगाया गया यह आरोप मुझपर व्यक्तिगत आक्षेप है। मैं शरत् के लिए अपनी गरदन कटवा सकता हूँ। मैं आपको समझाता हूँ।" और उन्होंने वहीं सड़क के किनारे मुझे डेढ़ घण्टा खड़ा रखकर शरत् के पात्रों की मानवीयता समझायी। सव्यसाची, अभया और राजलक्ष्मी के बालों की खाल खींची। बड़ी मुश्किल से मैं नाई की दूकान पहुँचा। बाल कटाने कुरसी पर बैठा तो मेरे ठीक पीछे बेंच पर बैठ गये। और आईने में मेरे प्रतिविम्ब से बातें करते गये। मैं आईने में उनका चेहरा देखता तो सहम

जाता। आखिर मैंने आँखें बन्द कर लीं।

बाल कट चुके। नाई ने पूछा, "बाबूजी बाल कट गये ?" मैंने कहा, "भाई, तुझे बालों की पड़ी है; यहाँ मेरी गरदन कट रही है।"

नाई की दूकान से उठा तो मैंने सोचा अब मुक्ति मिलेगी। मैंने घड़ी देखकर कहा, "एक बज गया। अब चलना चाहिए। नमस्ते।" वे बोले, "घर जाओगे न ?" मैंने कहा, "हाँ, घर ही जाऊँगा।" वे बड़े सहज भाव से बोले, "तो चलिए, आपको घर तक पहुँचा दूँ।" मेरा हार्ट फ़ेल होते-होते बच गया। मैंने तिनके का सहारा लिया। कहा, "आपको भोजन वग़ैरह भी तो करना होगा।" वे बोले, "अरे साहब, जब साहित्य-चर्चा में डूब जाता हूँ, तो मेरी भूख-प्यास सब भग जाती है। फिर आपका सत्संग कब मिलता है ?" उस समय मुझे लगा कि ईश्वर यह विश्वास कर लेता तो अच्छा होता। जब उन्होंने हाथी को मगर के चंगुल से छुड़ाया था तो क्या मुझे....? पर फिर सोचा इस वक़्त शैतान का जोर अधिक है, तभी तो मदनजी मुझे मिल गये। मैं घर चला और मेरे साथ रास्ते-भर वे बोलते गये। मेरे घर के सामने फाटक पर कुहनी टिकाकर एक घण्टा उन्होंने फिर मेरा दिमाग़ चाटा।

आखिर वे बोले, "अच्छा अब चलूँ।" मुझे बेहद ख़ुशी हुई और मैंने बिदाई के उपलक्ष में कहा, "कभी कुछ लिखिए तो सुनाइए ज़रूर।" बस वे आधा घण्टा और रुक गये और मुझे साहित्य-रचना की कठिनाइयाँ समझाते रहे। अन्त में कहने लगे, "क्या करें परसाईजी, वक़्त ही नहीं मिलता। कल ही लिखने बैठा था कि एक महाशय आ गये और घण्टा-भर बोर करते रहे।" मैंने मन में कहा, "हाय रे, तुम कहीं दूसरे की पीर भी समझ सकते। कुछ मैरियो पीर हिये परसो।"

तीन बज गया। वे चल दिये। चार क़दम चलकर रुके और बोले, "अभी तो मैंने आपको शरत् का एक पहलू बतलाया है। दूसरा पहलू फिर कभी बताऊँगा।" वे चले गये और मैं शरत् के दूसरे पहलू की चिन्ता में घुलता रहा कि एक दिन सुना उनका कहीं तबादला हो गया

है। पता नहीं जिस शहर में वे गये हैं वह अभी तक ऊजड़ हुआ कि नहीं। नहीं हुआ होगा तो जल्दी ही हो जायेगा।

यह तो एक बड़े बोर की बात हुई। छोटे और मझले तो कई मिलते हैं, पर अब मैं यह क़िस्सा समाप्त करूँ वरना आप बाइबिल के शब्दों में कहेंगे—

"God said, 'Let there be a pleasant Bore' and there was Hari Shanker Persai."

विजयदेवनारायण साही

समय का व्यापार

□

आप लोगों को याद होगा कि कई वर्ष पहले टेक्सिको में एक ज़बरदस्त गृहयुद्ध की खबर आयी थी जिससे संसार-भर में सनसनी मच गयी थी। किस प्रकार टेक्सिको के प्रेसीडेण्ट कार्लोस को, जो उस समय लीग ऑव नेशन्स के प्रमुख नेताओं में से थे, उनके राजभवन में उनके कमाण्डर इन चीफ़ जनरल लोफेंगो ने घेर लिया था और लगता था कि टेक्सिको का राष्ट्र बूढ़े ज्वालामुखी की तरह फटकर दो टुकड़े हो जायेगा। यह सारा समाचार उस समय बड़े-बड़े शीर्षकों के साथ अखबारों में छपा था। इससे भी अधिक नाटकीय बात यह हुई थी कि टेक्सिको की अत्यन्त रूपवती फ़िल्म ऐक्ट्रेस मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा ने इस समस्या को चुटकियों में हल कर दिया और सारे देश में खुशियाँ मनायी गयीं। उसके बाद लोग इस घटना को इस तरह भूल गये जैसे कभी कुछ हुआ ही नहीं था और संसार को इससे अधिक कुछ पता भी नहीं चला।

उस घटना के पीछे जो कहानी थी वही मैं आज आप लोगों को सुनाना चाहता हूँ क्योंकि उसकी कुछ बातें मुझे हाल में ही टेक्सिको से लौटे अपने मित्र प्रोफ़ेसर वीरेश्वर से प्राप्त हुई हैं।

टेक्सिको का प्रसिद्ध जौहरी बूढ़ा गोमेज़ जब मरने लगा तो उसने अपने बेटे कार्डिलो को बुलाकर अपनी दूकान, भवन, खज़ाने आदि सौंपे और बड़े अनुनय-भरे स्वर में कहा—"बेटा, जब से हमारे पुरखे स्पेन से यहाँ आये तब से हमारे वंश में हीरे-जवाहरात का व्यापार होता रहा है। जो कुछ धन-सम्पत्ति तुम देख रहे हो वह सब इसी की बदौलत है। यह सब छोड़ते मुझे दुख नहीं हो रहा है। दुख इसी बात का है कि कहीं

तुम यह सब लापरवाही में न बरबाद कर दो। तुमको मैं हमेशा किताबें पढ़ते देखता हूँ। कहीं तुम किताबों का व्यापार न शुरू कर दो। याद रखो, हम लोग सदा से मूल्यवान् वस्तुओं के व्यापारी रहे हैं। अगर किसी कारण हमारे वंश में सस्ती चीज़ों का व्यापार शुरू होगा तो यह तुम्हारे कीर्तिवान् पुरखों के लिए बड़े असम्मान की बात होगी।"

यह चेतावनी देकर बूढ़ा गोमेज़ मर गया। लेकिन उसे क्या मालूम था कि यह जवान छोकरा कार्डिलो व्यापार के दावँ-पेंच में उससे कहीं अधिक चतुर और पैनी सूझवाला है। बात यह थी कि कार्डिलो हीरे-जवाहरात से सन्तुष्ट नहीं था क्योंकि इसके व्यापारी बहुत हो गये थे। वह ऐसी वस्तु का व्यापार करना चाहता था जिससे अधिक मूल्यवान् वस्तु संसार में न हो और उसके वंश का सिक्का दुनिया में हमेशा के लिए बैठ जाये। यह सोचकर कार्डिलो अपनी किताबें उलटने लगा और सब कुछ पढ़ने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचा कि संसार में सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु समय है।

बस कार्डिलो ने समय का ही व्यापार करने का निश्चय किया। उस चतुर, उत्साही और महत्त्वाकांक्षी नौजवान को यह समझते देर न लगी कि इस व्यापार में सबसे पहला साझीदार प्रेसिडेण्ट कार्लोस को ही बनाना चाहिए जिनसे अधिक मूल्यवान् समय टेक्सिको में किसी का न था। चूँकि कार्डिलो के व्यापारी घराने की साख बहुत बड़ी थी और उसके बाप बूढ़े गोमेज़ ने प्रेसिडेण्ट कार्लोस के राजनीतिक कामों में बड़ी सहायता की थी इसलिए वह सीधा उनके पास पहुँचा और अपना प्रस्ताव उनके सामने रखते हुए बोला—"हमारे इस व्यापार में लाभ ही लाभ है और हम-आप इस लाभ को आधा-आधा बाँट सकते हैं। मैं जानता हूँ कि आपका समय बहुत मूल्यवान् है। यदि आपको यह प्रस्ताव स्वीकार हो तो आप अपनी घड़ी मुझे दे दें।"

प्रेसिडेण्ट कार्लोस के मुख पर एक अभिमानपूर्ण मुसकराहट खेल गयी और वह गम्भीर स्वरों में बोले—"कार्डिलो, तुम्हारा बाप मेरा दोस्त था

और तुम्हारी बुद्धिमानी देखकर मैं खुश हुआ हूँ। तुम इस काम के लिए बिलकुल ठीक व्यक्ति के पास आये हो। मैं इस व्यापार में साझीदार होने के लिए राज़ी हूँ। तुम मेरी घड़ी ले जाओ।"

ऐसा कहकर प्रेसिडेण्ट कार्लोस ने अपनी घड़ी कार्डिलो के सामने कर दी। कार्डिलो के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि उस घड़ी में सूइयाँ नहीं हैं और घण्टे-मिनट की जगह उसमें शताब्दियों के निशान बने हुए हैं। उसको चकित होते देखकर प्रेसिडेण्ट कार्लोस फिर मुसकराये और बोले—"कार्डिलो, यह मेरी—प्रेसिडेण्ट कार्लोस—की घड़ी है। इसमें सूइयाँ इसलिए नहीं हैं कि समय का प्रवाह एक दिशा में मानना मैं मूर्खता और दुर्बलता समझता हूँ। मैं इतिहास को आदमी के सामर्थ्य से बड़ा नहीं मानता। हममें यदि पुरुषार्थ हो तो इस बीसवीं सदी को मरोड़कर पाँचवीं और पाँचवीं को फैलाकर बाईसवीं में परिवर्तित कर सकते हैं। इस घड़ी में केवल सदियाँ बजती हैं और वह भी मेरी इच्छा पर। सूइयों का बन्धन व्यर्थ है।"

इस अद्भुत घड़ी को लाकर कार्डिलो ने अपनी दूकान पर रख दिया और समय का व्यापार शुरू किया। इस नये व्यापार की खबर बिजली की तरह फैल गयी। जो भी कार्डिलो की दूकान पर प्रेसिडेण्ट कार्लोस का समय पूछने आता उसे एक हज़ार सोने के डालर देने पड़ते थे। प्रेसिडेण्ट कार्लोस की मानसिक स्थिति के अनुसार यह निश्चय हो जाता था कि देश में इस समय दूसरी शताब्दी बज रही है अथवा बाईसवीं। चूँकि प्रेसिडेण्ट कार्लोस के अनुयायियों और शत्रुओं—दोनों की ही संख्या बहुत बड़ी थी और उनके समय पर टेक्सिको ही क्यों संसार-भर का भाग्य निर्भर करता था, इसलिए कार्डिलो का व्यापार चल निकला और रोज़ ही उसकी दूकान पर राजनीतिज्ञों, प्रेस रिपोर्टरों और जनसाधारण की एक भारी भीड़ समय जानने के लिए आने लगी।

कार्डिलो अपने व्यापार को और बढ़ाने की बात सोच रहा था कि उसके हाथ एक विचित्र घड़ी लगी जिससे उसे ऐसा लाभ पहुँचा जिसकी उसने

कल्पना भी न की थी। यह घड़ी टेक्सिको के प्रसिद्ध कवि पैसास की थी। कवि पैसास के जीवन में केवल दो काम थे—जुआ खेलना और कविता लिखना। एक बार जुए में सब कुछ हारने पर पैसास ने अपनी घड़ी दावँ पर लगा दी और उसे भी हार गया। यह घड़ी एक बैंक के मैनेजर को मिली जो कार्डिलो का मित्र था। लेकिन जब बैंक के मैनेजर ने यह देखा कि इस घड़ी के चलने का कोई ठिकाना ही नहीं है तो उसे बड़ा दुख हुआ। हफ़्तों वह बन्द पड़ी रहती और सहसा बिजली की तरह एक क्षण चलकर फिर बन्द हो जाती। उसे बिलकुल व्यर्थ समझकर बैंक के मैनेजर ने झल्लाहट में कार्डिलो को दे डाला। कार्डिलो की समझ में न आया कि इस घड़ी का क्या मूल्य हो सकता है जिसका स्क्रू ढीला है। बिना किसी आशा के उसने उस घड़ी को भी रख दिया। किन्तु उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब दूसरे ही दिन से साहित्यकारों, सम्पादकों और बेतुके प्रोफ़ेसरों की भीड़ उसकी दूकान पर इकट्ठा होने लगी। ये लोग उस एक क्षण को जानने के लिए काफ़ी रक़म देते और हफ़्तों कार्डिलो की दूकान पर बैठकर उस बन्द घड़ी को घूरा करते कि कहीं ऐसा न हो कि वह चले और वे उस क्षण से वंचित रह जायें। उनका कहना था कि उस एक क्षण में युग-युग की असीमता केन्द्रित हो जाती है। इसपर कार्डिलो को बहुत आश्चर्य होता। परन्तु उसे तो अपने व्यापार से मतलब था, ग्राहकों की छान-बीन से नहीं।

अब तो कार्डिलो ने बड़े उत्साह के साथ घड़ियों का संग्रह आरम्भ कर दिया। बड़े से बड़े और छोटे से छोटे आदमियों के पास वह गया और साझे पर उनकी घड़ियाँ ले आया। हर व्यक्ति उसे बड़े जोश के साथ अपने समय का मूल्य बताता और उसके नये व्यापार में साझीदार बनने में गौरव का अनुभव करता। उसने मशहूर बुड्ढे गार्ड लॉ पॉज़ की घड़ी प्राप्त की जिसने टेक्सिको में सबसे पहली ट्रेन चलायी थी और जो 'रेलवे का बाबा' के नाम से विख्यात था। जबतक लॉ पॉज़ नौकरी करता रहा टेक्सिको की सभी ट्रेनें समय पर चलती थीं। उसके अवकाश ग्रहण करते

ही शराब पीनेवाले नये कर्मचारियों ने सारी व्यवस्था गड़बड़ कर दी। यहाँ तक कि इसी कारण एक बार टेक्सिको और माटीमाला में युद्ध भी छिड़ गया था। जब माटीमाला के प्रधान मन्त्री टेक्सिको के बन्दरगाह पर उतरे तो उनके स्वागत के लिए जानेवाली प्रेसिडेण्ट की ट्रेन सात मिनट लेट पहुँची और प्रधान मन्त्री को प्रतीक्षा करनी पड़ी। उन्होंने इसे अपना अपमान समझा और विना मिले वापस चले गये। फलतः दोनों राष्ट्रों में युद्ध छिड़ गया जो कई देशों के बीच-बचाव करने पर शान्त हुआ। टेक्सिको की पार्लियामेण्ट ने विशेष प्रस्ताव द्वारा बुड्ढे लॉ पॉंज़ से प्रार्थना की कि वह एक बार फिर अपनी सेवाएँ देश को दे। तब अपनी उम्र के बावजूद लॉ पॉंज़ ने फिर एक बार टेक्सिको की ट्रेनों की व्यवस्था की थी। उस प्रस्ताव को अब भी उसने सुनहले फ्रेम में जड़वाकर रख छोड़ा था।

लॉ पॉंज़ की घड़ी में स्टेशनों की संख्याएँ बजती थीं और उसपर चमकदार अक्षरों में खुदा हुआ था—"जिन्दगी एक सफ़र है जिसमें पड़ाव ही पड़ाव है। मंज़िल तो वहीं है जहाँ से सफ़र आरम्भ हुआ था।"

धीरे-धीरे कार्डिलो के पास हज़ारों व्यक्तियों की घड़ियाँ इकट्ठी हो गयीं। रेसकोर्स के निर्णायक की घड़ी जिसमें सेकेण्ड, सेकेण्ड का सौवाँ भाग और हज़ारवाँ भाग बजता था; फाँसी के जल्लाद की अन्धी घड़ी जिसमें तभी प्रकाश होता था जब किसी को फाँसी लगनेवाली होती थी; सुप्रीमकोर्ट के जज की घड़ी जो लंच के समय इतनी ज़ोर से बजती थी कि सारे बाज़ार का काम रुक जाता था; अस्पताल के नर्स की घड़ी जिसमें रात में सपने दिखलाई पड़ते थे; अखबार के सम्पादक की बालू की घड़ी जिसमें वही मुट्ठी-भर रेत ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर हुआ करती; इन सबकी एक अच्छी प्रदर्शनी कार्डिलो की दूकान पर लग गयी। कोई भी ऐसा न बचा जिसके साथ उसने समय के व्यापार का साझा न किया हो। उसका व्यापार बहुत बढ़ गया। सम्पत्ति के साथ उसने यश भी कमाया और सचमुच उसके पुरखों की कीर्ति चारों ओर फैल गयी। सबसे बड़ी बात यह थी कि इस व्यापार में लाभ ही लाभ था, घाटे की कोई

सम्भावना ही नहीं थी। कार्डिलो का भाग्य-नक्षत्र पूरे तेज़ से चमकने लगा और उसकी समृद्धि की कोई सीमा नहीं रह गयी।

इस प्रकार कार्डिलो बड़ी कुशलता और दूरदर्शिता से अपना व्यापार चला रहा था कि सहसा एक दिन उसके पास टेक्सिको के कमाण्डर इनचीफ़ जनरल लोफेन्गो का फ़ौजी वारण्ट पहुँचा। चूँकि जनरल लोफेन्गो अपनी क्रूरता और कट्टरपन के लिए प्रसिद्ध थे इसलिए कार्डिलो के पैरों-तले से धरती खिसक गयी और वह डर से काँपता हुआ तुरन्त उनके पास पहुँचा। जनरल लोफेन्गो उस समय अपने कमरे में बैठे अलास्का की नायाब शराब की बोतलें गले में उँडेल रहे थे और यह कहना कठिन था कि उनकी मोम लगी सख्त मूँछों और लाल आँखों में से किसकी चमक ज्यादा थी। जनरल लोफेन्गो ने पूरी गिलास ख़ाली करते हुए चीखकर पूछा—"तुम कार्डिलो हो? क्या मैंने सही सुना है कि तुम समय का व्यापार करते हो?"

कार्डिलो ने डरकर कहा—"जी हाँ।"

जनरल लोफेन्गो ने मेज़ पर इतनी ज़ोर से दोनों मुट्ठियाँ पटकीं कि बोतल उछलकर नीचे जा गिरी और वह चिल्लाये—"बदतमीज़ जी हाँ करता है....कोई बात नहीं....खबरदार बोतल मत उठाओ....और तुमने मुझसे पूछा तक नहीं। क्या मेरे समय का कोई मूल्य नहीं? तुम्हारा साहस मेरा अपमान करने का कैसे हुआ? ज़रूर यह उस घमण्डी कार्लोस की करामात है। मैं उसे समझ लूँगा। और तुम नासमझ लड़के, तुम क्या पसन्द करते हो—मेरे साथ इस व्यापार में साझा या मौत?" इसके बाद उन्होंने पुकारा—"कोई है? इस सौदागर के लड़के को मौत दिखलाओ।"

आवाज़ सारे भवन में गूँजी। बग़ल के दरवाज़े से दो सिपाही निकले और अपनी बड़ी-बड़ी डरावनी राइफ़लों का निशाना कार्डिलो की ओर करके खड़े हो गये। कार्डिलो थर-थर काँपने लगा। मुश्किल से उसके मुँह से इतना निकला—"जनरल मुझे क्षमा करें। आप जो कहेंगे मैं करूँगा।"

जनरल का पारा कुछ नीचे उतरा। उन्होंने कहा—"अच्छी बात

है। कोई है? मौत को वापस करो और मेरी घड़ी ले आओ।"

सिपाहियों ने राइफ़लें नीची कर लीं और तेज़ी से बाहर दौड़े। जनरल लोफेन्गो ने दूसरी बोतल खाली की। थोड़ी देर में दस-बारह सिपाही एक बड़े पत्थर का चबूतरा लादे हुए कमरे में आये और उसे एक ओर रखकर 'अटेन्शन' खड़े हो गये। कार्डिलो ने देखा कि उसपर लोहे की एक तिकोनी चद्दर लगी हुई थी जो इस समय एक लीवर पर बड़ी तेज़ी से नाच रही थी।

जनरल लोफेन्गो बोले—"यह मेरी धूप-घड़ी है। इसे ले जाओ। मैंने अपनी सारी फ़ौज को आदेश दे दिया है कि वह रोज़ इसे देखे और तुम अपने उस बेवक़ूफ़ कार्लोस से कह देना कि समय की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह सबका नाश करता है और अन्धकार के गर्त में डाल देता है। समय का जितना भाग अन्धकार में डूबा हुआ है उसे नापने की चेष्टा करना मूर्खता है। इसीलिए मैं धूप-घड़ी का इस्तेमाल करता हूँ। तुमको मालूम होना चाहिए कि मेरा समय निरर्थक कार्लोस से ज़्यादा मूल्यवान् है। मैंने सुना है कि तुम उसका समय एक हज़ार डालर में बेचते हो। मेरे समय की क़ीमत एक हज़ार एक डालर होगी। कोई है? इस घड़ी को सौदागर की दूकान पर पहुँचा दो। डिस्पर्स।"

जान बचाकर, लेकिन यह नया संकट लेकर कार्डिलो घर आया। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। उसमें प्रेसिडेण्ट कार्लोस को टेलिफ़ोन किया। लेकिन उसे लगा कि यह सारी सूचना उन्हें पहले ही मिल चुकी थी, क्योंकि जनरल लोफेन्गो का कोई काम छिपा नहीं रहता था। प्रेसिडेण्ट कार्लोस ने उत्तर दिया—लोफेन्गो ने बिलकुल वाहियात हरकत की है। वह मुझसे अपनी तुलना करना चाहता है। तुमको मैं सरकारी आदेश देता हूँ कि उसके समय को नौ सौ निन्यानबे डालरों में बेचो। इस आज्ञा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। और मैं इस आदेश की सूचना लोफेन्गो के पास भेज रहा हूँ।

इसके पहले कि कार्डिलो अपने पुरखों की याद करके रो भी सके,

जनरल लोफेन्गो की सेना ने उसकी दूकान के चारों ओर घेरा डाल दिया और उसे फ़ौजी आदेश सुनाया कि जबतक इसका निर्णय नहीं हो जाता कि प्रेसिडेण्ट कार्लोस और जनरल लोफेन्गो में से किसका समय अधिक मूल्यवान् है तबतक व्यापार बन्द रहेगा। शीघ्र ही इस तनाव की सनसनी सारे देश में फैल गयी। प्रेसिडेण्ट कार्लोस ने जनरल लोफेन्गो के विरुद्ध राजद्रोह का अपराध लगाकर उन्हें बरखास्त कर दिया और जनरल लोफेन्गो ने अपनी सेनाको आज्ञादी कि वह प्रेसिडेण्ट कार्लोस को गिरफ़्तार कर ले। एक कवि पैसास को छोड़कर, जो अभी भी जुए में मस्त था, सारा देश दो टुकड़ों में बँट गया। अनपढ़ और मूर्ख जनता कभी एक का पक्ष लेती कभी दूसरे का। स्पष्ट दीखने लगा कि बिना गृह-युद्ध हुए इस अभूतपूर्व प्रश्न का निबटारा असम्भव है। तभी जनरल लोफेन्गो ने अपनी सेना द्वारा प्रेसिडेण्ट कार्लोस को उनके राजभवन में घेर लिया। इसकी जो अतिरंजित खबरें उस समय अखबारों में छपी थीं, वह सब आपको मालूम ही हैं।

लेकिन मैं कह चुका हूँ कि अनिन्द्य सुन्दरी मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा ने इस भयानक समस्या का समाधान देखते ही देखते कर लिया और टेक्सिको में छोकरों से लेकर बूढ़े तक जो उसके रूप के प्रशंसक थे, उसकी बुद्धिमत्ता का भी लोहा मान गये; क्योंकि देश के हित में जो काम मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा ने किया वह अद्भुत तो था ही, साथ-साथ उस रूपसी की पैनी सूझ का परिचायक भी था।

हुआ यह कि प्रेसिडेण्ट कार्लोस और जनरल लोफेन्गो दोनों ही मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा से प्रेम करते थे और उसके अनुग्रह के अभिलाषी थे। राज-भवन पर सफलतापूर्वक घेरा डाल देने के बाद जनरल लोफेन्गो ने फ़्रान्सीसी शराब की तेरह बोतलें पी डालीं और टेक्सिको का नक़्शा लिये हुए अपनी प्रेयसी मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा से मिलने गये; क्योंकि उनका इरादा टेक्सिको के राज्यको उस रूपवती के पैरोंतले बिछा देने का था। एक्स्ट्रा-वेगेंज़ाने उनसे मिलने में विनम्रतापूर्वक असमर्थता प्रकट करते हुए एक

छोटा-सा पत्र भीतर से उनके पास भेजवाया। उस पत्र में लिखा था, "मैं अभी व्यस्त हूँ। मेरे पास समय नहीं है। आपका समय मूल्यवान् है, अतः आप इस समय जायें। या यदि बैठ सकें तो थोड़ी देर प्रतीक्षा कर लें।"

जनरल लोफेन्गो ने प्रतीक्षा करना ही उचित समझा। विजेता होने के कारण वे इस समय बहुत पुलकित थे। उनके दिमाग़ में कवि पैसास की वे चार पंक्तियाँ चक्कर काटने लगीं जिनका शीर्षक 'दुर्दमनीय प्रेम' था और जो उन्होंने बहुत पहले कहीं पढ़ी थीं। मगन होकर उत्तर में जनरल लोफेन्गो ने वही पंक्तियाँ लिखकर भेज दीं। "हे सुन्दरी, तुम्हारे समय के सामने मेरे समय का कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः मेरे समय का मूल्य वही है जो तुम चाहो। मैं युग-युग तक प्रतीक्षा करूँगा।" इस प्रकार कवि पैसास की कविता जनरल लोफेन्गो के काम आयी।

इधर प्रेसिडेण्ट कार्लोस के समर्थकों ने राजभवन को घेरनेवाली सेना को छिन्न-भिन्न करके उनको मुक्त कर दिया। मुक्त होते ही वे अपनी प्रेयसी मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा के पास पहुँचे क्योंकि उनका इरादा इस विजय की खुशी में उसे 'टेक्सिको की रानी' की उपाधि देने का था। इस बीच जनरल लोफेन्गो उससे मिलकर जा चुके थे। मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा ने वही व्यवहार उनके साथ भी किया और उत्तर में उनसे भी इसी आशय का पत्र लिखवा लिया।

दोनों पत्रों को लेकर वह निर्भय होकर टेक्सिको की पार्लियामेण्ट में चली गयी जहाँ देश के तत्कालीन संकट पर गरमागरम बहस छिड़ी हुई थी और लोगों की समझ में नहीं आ रहा था कि बिना गृहयुद्ध के इस गुत्थी को कैसे सुलझाया जाये। पार्लियामेण्ट में मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा ने घोषणा की, "माननीय सदस्यो, प्रेसिडेण्ट कार्लोस और जनरल लोफेन्गो दोनों ने ही मुझे अपने समय का पंच माना है और इसका लिखित प्रमाण मेरे पास मौजूद है। मेरा निर्णय है कि दोनों का समय बराबर मूल्यवान् है, अतः जौहरी कार्डिलो को आप लोग आदेश दें कि दोनों की क़ीमत एक हज़ार डालर रखी जाये। साथ ही दोनों ने यह भी स्वीकार किया है कि

मेरा समय उन दोनों से ज़्यादा मूल्यवान् है। अतः मेरी भी घड़ी कार्डिलो की दूकान पर रखी जायेगी और मेरे समय का मूल्य बारह सौ डालर रखा जायेगा।"

इस अप्रत्याशित प्रस्ताव पर चारों ओर हर्ष की लहर दौड़ गयी। प्रेसिडेण्ट कार्लोस और जनरल लोफेन्गो दोनों ही सहमत हो गये। सारे देश में रोशनी की गयी और लोगों ने अपने हैट हवा में उछाले। कवि पैसास की कविता ने जो राष्ट्र की सेवा की थी उसके फलस्वरूप उसे पार्लियामेण्ट ने राष्ट्रकवि घोषित किया और उसे पचास हज़ार डालर पुरस्कार में दिया, जिसे उसने शीघ्र ही जुए में उड़ा दिया। व्यापारी कार्डिलो पर जो संकट आया था वह न केवल हट गया बल्कि उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। देश-देशान्तर से लोग उसकी दूकान पर समय पूछने आने लगे और उसका व्यापार दिन दूना रात चौगुना उन्नति करने लगा।

इस प्रकार कार्डिलो ने समय का सफल व्यापार किया। धीरे-धीरे कई बरस बीत गये। प्रेसिडेण्ट कार्लोस स्वर्गवासी हुए और उनके स्थान पर दूसरे प्रेसिडेण्ट आये। जनरल लोफेन्गो को देश-निकाला हो गया और उनकी जगह पर दूसरे जनरल नियुक्त हुए। कवि पैसास को उसके अनुयायियों ने मार डाला और जुए के स्थान पर सट्टेबाज़ी के नये मूल्यों की स्थापना की। मिस एक्स्ट्रावेगेंज़ा का रूप ढल गया और उनका नाम संकुचित होकर केवल मिस एक्स्ट्रा रह गया। परन्तु कार्डिलो का व्यापार बढ़ता ही गया क्योंकि हर आनेवाली पीढ़ी अपना समय पिछली पीढ़ी से अधिक मूल्यवान् समझती है।

एक दिन कार्डिलो अपनी दूकान पर बैठा अपने व्यापार के निश्चित लाभ पर विचार कर रहा था कि सामने एक रिक्सा आकर रुका। रिक्शेवाले ने घड़ियों की दूकान देखकर कहा—"भाई, मेरी घड़ी रुक गयी है। समय बता दो ताकि अपनी घड़ी मिला लूँ।"

कार्डिलो ने पूछा—"आप किसका समय जानना चाहते हैं।"

रिक्शेवाले ने कहा—"आपका प्रश्न मेरी समझ में नहीं आया।"

कार्डिलो को अपने इस नये व्यापार में अक्सर ऐसे अवसर आते थे जब उसे नये लोगों को अपनी प्रणाली समझानी पड़ती। परन्तु इससे उसको घबराहट नहीं होती थी। एक सफल व्यापारी की तरह वह ग्राहकों में छोटे-बड़े का अन्तर नहीं मानता था और चतुराई के साथ वह विनयपूर्वक अपने एक-एक माल की प्रशंसा करता, इतिहास बतलाता और ग्राहक को चकित कर देता। उस समय उसे असीम सुख की प्राप्ति होती। उसने रिक्शेवाले को दूकान के अन्दर बुलाया और अपनी हज़ारों घड़ियों के बीच उसे घुमाने लगा। बड़े उत्साह के साथ उसने उसे सब कुछ बताया और प्रेसिडेण्ट से लेकर फाँसी के जल्लाद तक की घड़ियाँ दिखलायीं। अन्त में उसने गर्व से भर कर कहा—'मेरे दोस्त, यह व्यापार मेरा निजी आविष्कार है और इसने मेरी कीर्ति को झोपड़ियों से महलों तक प्रकाशित कर दिया है। सबसे बड़ी बात यह है कि इस व्यापार में लाभ ही लाभ है क्योंकि इसमें पाना ही पाना है, देना कुछ नहीं है। हर समय के अलग-अलग बेचनेवाले हैं और अलग-अलग उनके खरीदार हैं। तुम जिसका समय चाहो जान सकते हो, उसी के अनुसार तुम्हें मूल्य चुकता करना पड़ेगा।"

रिक्शेवाला चकित होकर कार्डिलो के लम्बे व्याख्यान को सुनता रहा। फिर उसने एक ठण्डी साँस ली और कहा—"अनोखे व्यापारी, मैंने तुम्हारे हज़ारों समयों की मूल्यवान् प्रदर्शनी देखी और यह भी जाना कि हर व्यक्ति के समय का मूल्य अलग होता है। इस दुनिया में मैं ही एक अकेला आदमी हूँ जिसके समय का कोई मूल्य नहीं है। मेरे समय का मूल्य मुझपर बैठी हुई सवारी से लगता है। कभी मैं लोगों को छूटती ट्रेन पकड़ने के लिए स्टेशन पहुँचाता हूँ, कभी भोले प्रेमियों को निरुद्देश्य चाँदनी की सैर कराता हूँ और कभी थके, टूटे हुए मजदूरों को उनकी कोठरी में डाल आता हूँ। हर बार मेरे समय का मूल्य बदलता रहा है। जब मेरे पास कोई सवारी नहीं होती और मैं इधर-उधर भटकता हूँ, तब मेरे पास समय का कोई मूल्य नहीं होता। मेरे पास यह घड़ी जो तुम

देखते हो मेरे बाप की है जो तेल की खान में काम करता था। मैं यह घड़ी तुम्हारे पास छोड़े जाता हूँ। इतने बड़े संसार में अगर कोई ऐसा निकले जो इन मूल्यवान् व्यक्तियों के बीच मुझे भी पूछे तो तुम उससे दाम न लेना बल्कि मेरी ओर से आभार-प्रकाश के रूप में यह पचीस सेण्ट उसे दे देना जो आज दिन-भर की मेरी कमाई है।"

ऐसा कहकर रिक्शेवाले ने दूकान पर अपनी घड़ी और पचीस सेण्ट रख दिये और चलता हुआ। कार्डिलो को पहली बार मालूम हुआ कि समय के इस लाभदायक व्यापार में सब पाना ही पाना नहीं, कहीं कुछ देना भी है।

□ □

श्रीलाल शुक्ल

सुकवि सदानन्द के संस्मरण

□

कवि न होहुँ नहिं चतुर प्रवीना।
सकल कला सब विद्या हीना॥

(गो. तुलसीदास)

[तबहुँ कबिन कर आसन छीना।]

—सदानन्द।

हौं पण्डितन केर पछिलगा।

—जायसी।

यहि बिधि सकल जगत कहँ ठगा।

—सदानन्द।

विफल जीवन व्यर्थ
बहा बहा,
सरस दो पद भी न हुए अहा;
सरस है कविते तव भूमि भी;
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।

—मैथिलीशरण गुप्त

सुकवि तो मुझको सबने कहा।

—सदानन्द

संस्मरण की परिपाटी पुरातन है। बाणभट्ट-जैसे कवियों तक ने हर्ष-चरित के सहारे आत्मचरित लिखा है। अर्वाचीन परिपाटी और भी अलंकारमय है। सुलेखक, विमल बी. ए. पास बाबू श्यामसुन्दर दास तक ने अपनी जीवनी अपने हाथों लिखी। बाणभट्ट ने हर्षचरित में अपने

आवारा होने से उच्चकोटि के कवि होने तक का वर्णन किया है। अर्वाचीन परिपाटी में कवि होने से आवारा होने तक का वर्णन हो तो वह आदर्श जीवनी हो जायेगी। अपने विषय में वही करता हूँ।

अर्वाचीन शैली में शरीर-सज्जा के वर्णन से ही संस्मरण प्रारम्भ करने का चलन है। यथा—

शरीर से दुर्बल, देखने में दरिद्र, एक आँख चमकती हुई, एक आँख मुँदी हुई, मूँछें छोटी-छोटी और अकिंचन—ऐसे हैं बाबू....!

उसी प्रकार अपनी अनेक स्थितियों के छह चित्र पाठकों की भेंट करता हूँ।

लँगोटी लगाये हुए, तन पर भस्म मले हुए, रूखे बाल, फलाहारी (अर्थात् आम का रस हाथ में और जामुन का रस मुँह पर पोते हुए) कृष्णानुरागी (अर्थात् काले-कलूटे), गोरक्षक (अर्थात् गाय-बैलों की चरवाही करते हुए), शुकदेव समान (अर्थात् दस वर्ष की आयु में ही जंगल में घूमनेवाले), परम प्राकृतरूप—यह मेरी बाल्यावस्था थी !

लुंगी बाँधे हुए, भुजाओं में काला ताबीज़ और गले में काला डोरा डाले, शरीर पर कड़ुए तेल की मालिश किये, भंग पिये, भंग पीनेवालों से घिरे, भंग घोंटते हुए, कड़कती आवाज़ में कवित्त-सवैयों का पारायण करते हुए, गुरु-सेवा में तल्लीन—यह किशोरावस्था थी।

बढ़िया तावदार, पेंचदार, मूँछों से शोभित मुखमण्डल, रंगीन साफ़ा, जोधपुरी कोट, चूड़ीदार पायजामा, ताम्बूल-चर्वण-सिद्ध कण्ठ से नायिका-सेवी सवैयों का गान, छन्द को अयाचित रूप से दो बार सुनाने का नियम—यह पूर्व युवावस्था थी।

गान्धी टोपी, कुरता, धोती, चप्पल, छड़ी, झोला। जो सच है, उसे सच बताते हुए 'सत्य से लाभ', 'पुरुषार्थ की महिमा', 'आशा और निराशा' आदि विषयों पर कविता लिखते हुए—यह मेरी उत्तर युवावस्था थी।

फिर, समय की शिला पर मधुर चित्र बनाते हुए, नीर-भरी दुख की बदरी बरसाते, मन को मधुर-मधुर तपने का उपदेश देते, हृत्तन्त्री के तार

से क्षितिज के उस पार को भी झंकार कर, क्षीणकाय, क्षीणकटि, जटिली, कुंचितकेशी, मधुवेशी रूप में काव्य-सर्जना करते हुए—यह प्रौढ़ावस्था थी।

और अब वेश से काव्य-निर्देश होना सम्भव नहीं। प्रगति, प्रयोग, नव काव्य (नयी कविता)—सब गड़बड़ हो गया है। फिर भी :

रूखे बाल, टूटे चप्पल, फटा कुरता, बिना स्याही की फाउण्टेन पेन, मोटे फ्रेम का चश्मा।

अथवा, बिलकुल नया सूट, दोषहीन अँगरेज़ी भाषा, चमकते जूते, वकीलों-सी तार्किकता, डॉक्टरों की-सी सहानुभूति, बीमा एजेण्टों की-सी चतुरता, बातचीत में कथा-वाचकों की-सी असम्बद्धता—वह सब वृद्धावस्था में झेल रहा हूँ।

मैं सदानन्द था। सदानन्द हूँ। इसका रहस्य नये कवियों के लाभार्थ बता रहा हूँ।

प्रारम्भ में गुरुदेव ने सवैया-घनाक्षरी का सुख दिया। तब कवित्त लिखने के विषय खोजने न पड़ते थे। वे बोले, "मुग्धा पर लिखो। सवैया छन्द हो। सिंहावलोकन का सत्कार हो। छेकानुप्रास की छटा हो। रूपक का रमण और उत्प्रेक्षा का उल्लेख हो।" दिन-भर भगण के लघु-गुरु का नक़शा बनाकर क्रासवर्ड पहेली-सी भरते रहे। शाम को गुरुदेव ने वह पूरा सवैया फाड़कर फेंक दिया और उसके स्थान पर एक दूसरा लिख दिया। मेरी काव्य-साधना सफल हुई।

समस्या-पूर्ति में और भी सुख था। किसी ने समस्या दी; मैंने उसकी पूर्ति दी, 'पिपीलिका चुम्बत इन्दु को बिम्बै' मिल गयी तो 'बिम्बै' से लेकर 'जिम्बै' तक खींच ले गये। इस प्रकार चार तुक निकालकर पिपीलिका को इन्दु तक ले जाने का उपक्रम करने लगे। साधना कठिन थी पर पिपीलिका की साधना सर्वविदित ही है। वह असली इन्दु तक न जा सके तो नायिका का मुख भी तो इन्दु ही है। नायिका के सो जाने पर पिपीलिका को वहीं पहुँचा दिया और इन्दु की बिम्बै दिखा दीं। आगे पिपीलिका की गति पिपीलिका जाने और नायिका की जाने नायिका।

एक रेलवे के बाबू थे। रायबरेली ज़िले के रहनेवाले, जाति के दुबे। महावीर प्रसाद नाम था। उन्होंने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। उसके बाद कविता के स्टेशन पर आकर नायिका-भेद, सवैया-घनाक्षरी आदि की लाइन पर लाल झण्डी लेकर बैठ गये। खड़ी बोली का लाइन-क्लियर देकर सीटी बजाने लगे। प्रयाग में सीटी बजायी तो चिरगाँव तक उसकी गूँज गयी। मैंने गुरुदेव से कहा, "मैं भी इसी लाइन पर जाऊँगा।"

वे बोले, "तरवारि की धार पै धावनो है।"

पर मैंने लाइन बदल दी। यहाँ और भी सुख था। जैसे कोई आकर कहे, "इस डिब्बे की चेन फ़िट कर दो।" वैसे ही एक पत्र ने आकर कहा, "वर्षा अंक के लिए 'हरीघास' पर कविता लिखो। 'मानों' का प्रयोग हर तीसरे चरण में हो, इसे उत्प्रेक्षा समझो। द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग हो।"

यह काम बड़े आराम से चल रहा था कि एक दिन कहीं पढ़ा,

"विजन निशा निरवधि नभ शीतल,
तुहिन, कुसुम, विभ्रम, सत्कार।"

न भाषा समझ में आयी न भाव। लगा कि जिस लाइन पर मैं जा रहा था वह छोटी लाइन है। उसी के पास से बड़ी लाइन पर एक गाड़ी बिना दुबेजी से लाइन-क्लियर माँगे निकल गयी है।

मुझ सदानन्द को क्या चिन्ता? कवि कहाने की चाट लगी थी। (कवियशःप्रार्थी) सीधे प्रयाग गया। एक वय किशोर, कोमल तन, परम सुखद कवि मिले। गुरुदेव का पत्र आया कि रहस्यवाद का जाल जटिल है। मैंने अपने नये गुरु की जटाओं का उल्लेख करके लिखा कि कविता के उत्स कहाँ से फूटे हैं।

अब कालिदास-ग्रन्थावली लेकर शब्द खोजने बैठे। आवर्जित, संचारिणी, पल्लविनी, श्लथ, विश्लथ, नोहार—जो भी शब्द स्त्रैण जान पड़ा, उसे रट लिया। उपसर्ग का प्रयोग सीखा। शम का उपशम, क्रान्ति का संक्रान्ति, हार का प्रहार, आहार, संहार, विहार—सब रटकर

जो कविता लिखी तो पूरी लाइन पर डाक गाड़ी की गमक गूँजने लगी।

एक दिन समाचार सुना कि प्रगतिवाद के दफ़्तर में भरती का काम जारी है।

लड़ाई के दिन थे। देश के हज़ारों नौनिहाल खन्दक़ों में पड़े सड़ रहे थे। मैंने भी दफ़्तर में जाकर अपना कार्ड बनवाया। हवलदार ने नसीहत दी, "ये जनाना किसम की कविता नहीं चलेगी। जोश-खरोश की बात लिखना होगा। मज़दूर भूखा है, किसान नंगा है, पूँजीपति पेटू है। तुम कुछ जानता भी है?"

हाथ जोड़कर मैंने कहा: "सोइ जाने जेहि देहु जनाई।"

उस दफ़्तर में बारह साल काम करते-करते एक दिन जान पड़ा कि मज़दूरों और किसानों की समस्या हल हो गयी क्योंकि उस दिन ये स्वर सुन पड़े:

"सुनो, कैरा सुनो,

क्या मेरी आवाज़....।"

उसी दिन मैंने एक विस्तृत पत्र में अपने गुरुदेव को पूरी बात स्पष्ट रूप से लिखी,

"सुनो, गुरुदेव, सुनो,

क्या मेरी आवाज़ तुम तक पहुँचती है?"

मैं अब प्रयोग करने लगा हूँ। मैंने आज एक किताब में अस्पताल का प्रयोग किया है। डिसइन्फ़ेक्टेण्ट, ऐण्टीबायॅटिक्स ऐनीस्थीशिया, क्लोरो-माइसिटीन आदि शब्द कल सीखे थे। इनका इस्तेमाल इस कविता में आज दिखाया है। अब एक कविता मुझे रात के झिलमिल तारों पर लिखनी है। उसमें इंजीनियरी का प्रयोग करना पड़ेगा। गुरुदेव, बचपन में सड़क कूटने के कारण, दरेसो, गैंग, मेट आदि शब्द तो मुझे आते हैं पर कोई लम्बा शब्द याद नहीं है। सुनते हैं ट्यूबवेल बनाने की मशीन में कई पुर्ज़ों के अद्भुत नाम हैं! आप किसी मिस्त्री से पूछकर लिख भेजने की कृपा करें।

"साथ ही साथ, गुरुदेव, अब नयी कविता का नाम भी सुनने में आने

लगा है। पर इस मोर्चे पर भाग्य, 'मारेसि मोहि कुठाउँ।' नयी कविता लिखने के लिए सुनते हैं, पढ़ना बहुत पड़ता है और सब पढ़कर फिर ऐसा लिखना पड़ता है कि कवि के पढ़े-लिखे होने का आभास तक न मिले। सो, गुरुदेव पढ़ाई की बात सुनते ही, 'सीदन्ति मम गात्राणि, वेपथुश्चोपजायते।' मुंह सूख रहा है, राह नहीं दीख पड़ती। कुछ बताइए कि अब क्या करें और क्या लिखें?

"आप कहते हैं कि बार-बार अपने को बदलकर मैंने बुरा किया। गुरुदेव, मुझे इसी गुण के कारण आलोचक समन्वयवादी कहते हैं। आपने अवसरवादी शब्द का प्रयोग अशुद्ध रूप में किया है। राजनीति का यह शब्द साहित्य में प्रयुक्त नहीं हो सकता। आपने ही सिखाया था, 'काव्यं यशसे', सो जहाँ जैसा यश मिला, वहाँ वैसी कविता की। 'अर्थकृते', अतः जहाँ दो पैसे का डौल लगा, वहाँ जाकर काव्य लिखा। यह शास्त्रोक्त कर्म था। इसमें कौन-सा कुकर्म है, गुरुदेव?

"और सच तो यह है कि मेरी कविता बदली पर मैं नहीं बदला। 'जग बदलेगा, किन्तु न जीवन।' सदानन्द था, सदानन्द रहा। सवैया लिखकर भी 'सदेश' नहीं बना। 'सरस्वती' में छन्द छपाकर भी सदानन्दशरण नहीं कहलाया, सरस्वती प्रेस तक जाकर भी 'कामरेड सिद्दू' नहीं हुआ। अब नयी कविता लिखूँगा पर सदानन्दायन नहीं बनूँगा। यश बढ़ता रहे, अर्थ बढ़ता रहे, राजसम्मान बढ़ता रहे पर नाम वहीं का वहीं रहेगा। इसी में आनन्द है। सदानन्द हूँ, सदानन्द रहूँगा।"

□ □

नामवर सिंह

कौन बड़ा है ?

□

कल जब मैं पुस्तकालय गया तो बड़ी चहल-पहल दिखाई पड़ी। बहुत-सी पुस्तकें अपनी-अपनी अलमारियों से निकलकर ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रही थीं। जो असमर्थ थीं अथवा किसी कारण से भीतर ही रह गयी थीं, वे भी चुप न बैठी थीं। पाठक सभी दर्शक की तरह देख रहे थे और पुस्तकें धूल-धक्कड़, झींगुर वग़ैरह से लिपटकर शृंगार कर रही थीं। किसी की हिम्मत न थी जो उनसे कुछ पूछता। मैं साहस करके पुस्तकाध्यक्ष महोदय से पूछ बैठा। उन्होंने अत्यन्त सनसनीदार सूचना दी। बोले—"अभी हाल ही में जब 'साहित्य सम्मेलन' में मंगलाप्रसाद पारितोषिक समिति की बैठक हुई तो एक सदस्य ने नया प्रस्ताव रखा कि इस वर्ष का पुरस्कार समूचे हिन्दी सहित्य के सबसे बड़े साहित्यकार को दिया जाये। एक दूसरे सदस्य ने आपत्ति उठायी कि नियम के अनुसार तो यह केवल जीवित साहित्यकारों को ही दिया जा सकता है। प्रस्तावक महोदय ने कहा कि क्या साहित्यकार भी कभी मरता है, वह तो अमर होता है। बात वाजिब थी, व्याख्या नयी थी। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए प्रस्तावक महोदय ने कहा कि साहित्यकार तो शारीरिक रूप से मरने के बाद ही जीवित होता है। प्रमाणस्वरूप उन्होंने अपना ही उदाहरण दिया और कहा कि इस समय साहित्य में कोई उन्हें जीवित नहीं समझ रहा है। आगे उनका तर्क था कि नियम तो रूढ़ियों से ही बनते हैं। यदि हम लोग साहित्यकारों को अमर मानकर तुलसी, सूर, कबीर आदि को भी पुरस्कार देने की परम्परा चला देते हैं तो मरने के बाद स्वयं भी उसका पुरस्कार पायेंगे। इसके अतिरिक्त यदि कोई यह आपत्ति करता है कि क्या उन

महाकवियों ने अपनी रचनाएँ पुरस्कार के लिए भेजी थीं तो निःसंकोच ही कहा जा सकता है, क्योंकि सम्मेलन पुस्तकालय में उन लोगों की पुस्तकें प्रकाशित रूप में ही नहीं पाण्डुलिपि रूप में भी पड़ी हैं। जिन पुस्तकों की पाण्डुलिपि न हो उनकी तैयार भी करायी जा सकती है।

प्रस्ताव इतना तर्क-सम्मत था कि सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ, यद्यपि सम्मेलन के इतिहास में सर्व-सम्मति से स्वीकृत होनेवाला यह पहला प्रस्ताव था। अब समस्या थी कि यह कैसे देखा जायेगा कि कौन साहित्यकार सबसे बड़ा है। इस बार भी प्रस्तावक महोदय ही बोले कि इन सभी साहित्यकारों को पूरी तैयारी के साथ सम्मेलन-भवन में बुला लिया जाये और एक-एक कर सबकी ऊँचाई नाप ली जाये क्योंकि उनकी पुस्तकों को पढ़कर निर्णय करने में तो सालों लग जायेंगे।

सभी सदस्य मारे खुशी के उछल पड़े। इसपर एक सदस्य ने कहा, "इतनी बुद्धिमत्ता से भरे प्रस्ताव पर स्वयं आप ही मंगलाप्रसाद पारि-तोषिक के अधिकारी हो जाते हैं। अस्तु, मैं प्रस्ताव करता हूँ कि अगले वर्ष का पुरस्कार आप ही को क्यों न दिया जाये।"

इसपर प्रस्तावक महोदय ने चट कहा, "आपकी इस गुण-ग्राहकता और खरी सूझ को देखकर मैं प्रस्ताव करता हूँ कि मेरे बादवाले वर्ष का पारितोषिक आप ही को दिया जाये। यही नहीं, इतने महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव जिस उपसमिति में स्वीकृत हो रहे हैं उसके प्रत्येक सदस्य को एक-एक कर आगामी वर्षों में पुरस्कृत कर देना चाहिए। यह तय नहीं कि आनेवाले सदस्य इस बात से सहमत ही हों, अस्तु इस तरह का एक उपनियम बना-कर विधान में जोड़ दिया जाये।" 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' से भवन गूँज उठा।

लोग इतने प्रसन्न हुए कि प्रस्तावक महोदय को दोबारा पारितोषिक देने का प्रस्ताव आते-आते बचा। अन्त में उस टूर्नामिण्ट के लिए तिथि निश्चित करके बैठक ने विराम लिया।

इतना कह चुकने के बाद पुस्तकाध्यक्ष महोदय ने कहा कि आज उसी

सूचना का प्रभाव है जो पुस्तकें 'साहित्य सम्मेलन भवन' में जाने की तैयारी कर रही हैं। विद्यापति से प्रेमचन्द और प्रसाद तक के साहित्यकारों की होड़ है, अतएव इन सभी साहित्यकारों की पुस्तकें भी तमाशा देखने जा रही हैं क्योंकि इस विजय का प्रभाव उनके भावी जीवन पर पड़ सकता है। यों, इन पुस्तकों में बहस वग़ैरह तो अभी से शुरू हो गयी है। -

इतना सुना तो स्वयं भी घटनास्थल पर पहुँचने का लोभ संवरण न कर सका। स्टेशन की ओर झपटा हुआ जा रहा था कि 'हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी' पर बड़ी भीड़ देखी—पूछने पर मालूम हुआ कि शायद वेष बदलकर साहित्यकार लोग ही अपनी पुस्तकें खरीदने आये हैं। परन्तु कुछ सन्त और भक्त कवि वहाँ नहीं दिखाई पड़े। दुकानदार ने कहा कि वे अपरिग्रही महात्मा लोग पैसा कहाँ से पायें अतः किसी पुस्तकालय की शरण गये होंगे। इच्छा तो हुई कि लपककर 'कारमाइकेल' पुस्तकालय में देख लूँ परन्तु गाड़ी का समय हो गया था।

काशी से प्रयाग जानेवाली यह आखिरी गाड़ी थी, इसलिए सबसे अधिक भीड़ इसी में थी। गाड़ी में आदमियों से ज्यादा पुस्तकें ही थीं और स्टेशन मास्टर का कहना था कि यदि यही मालूम होता तो यात्रीगाड़ी की जगह मालगाड़ी का ही प्रबन्ध किया गया होता।

रास्ते-भर गाड़ी में पुस्तकों ने क्या-क्या काण्ड किये इसका बयान न करना ही अच्छा-है। रीतिकालीन पुस्तकें तो रात-भर जागकर अन्त्याक्षरी करती गयीं। आधुनिक युग की किताबों ने कवि-सम्मेलन का आयोजन कर लिया था। हाँ, बीच-बीच में यदि चुप दिखाई दे रही थीं तो भक्तियुग की पोथियाँ। यह अकाण्ड काण्ड देखकर मानस, बीजक और सूरसागर वग़ैरह आँख मूंदकर रात-भर माला जपते रहे अथवा ध्यानमग्न थे। यह अवश्य था कि रीतिकालीन पुस्तकें इन ध्यानलीन ग्रन्थों पर कभी-कभी व्यंग्यात्मक समस्या पूर्तियाँ भी कर देती थीं। परन्तु उसका कोई उत्तर नहीं दिया गया। यात्रा सकुशल समाप्त हुई।

उतरकर नियत समय से कुछ पहले ही सम्मेलन-भवन पहुँचा। पहुँचते ही देखा कि प्रकाशक लोग पहले ही से डटे हैं, क्योंकि यह उनके हानि-लाभ का ही नहीं, जीवन-मरण का प्रश्न था। थोड़ी देर बाद समालोचकों का दल भी आ धमका। इनमें कुछ लोगों ने कहा कि हम लोग दर्शकों के स्थान पर न जाकर सीधे अखाड़े में ही दाखिल हो जायें। परन्तु आचार्य शुक्ल-जैसे गम्भीर समालोचकों ने चुपचाप दर्शक-मण्डली में ही स्थान लिया। देखा-देखी कुछ और लोग भी बैठ गये परन्तु मिश्र-बन्धु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन-जैसे अखाड़िया दिग्गज विद्वान् अखाड़े में ही बैठे। सभी लोग तो अबतक आ गये थे परन्तु जिनमें होड़ थी अर्थात् जिन साहित्यकारों के भाग्य का निर्णय होनेवाला था उनमें से किसी का पता न था। निर्णायक मण्डल भी बैठ गया। फ़ीता लेकर नापनेवाले महानुभाव बेचैन-से नज़र आ रहे थे। सबकी निगाहें सड़क पर लगी थीं, कुछ लोग आसमान की ओर देख रहे थे। नियत समय निकट आ रहा था परन्तु प्रतिद्वन्द्वी साहित्यकारों में से कोई नहीं पहुँचा। कानाफूसी होने लगी। कोई कहता था, सूचना नहीं पहुँची होगी। कोई कहता, सवारी न मिली होगी। कोई कहता, गाड़ी लेट हो गयी। परन्तु कुछ लोगों का यह भी कहना था कि शायद अपना अपमान समझ कर वे लोग न आये हों। मेरी बग़ल में कोई एकाक्ष पुरुष बैठे थे। उन्होंने कहा, क्या देखते हो? सभी साहित्यकार वेष बदलकर बैठे हैं। घण्टा बजते ही असली रूप में दाखिल हो जायेंगे।

मुझे विश्वास नहीं हुआ। ठीक समय पर घण्टा बजा। अन्तिम झनक मौन भी न हो पायी कि शर्माजी ने अपने पाकेट से बिहारी को निकालकर रख दिया। देखना था कि मिश्रबन्धुओं ने देव को अपने झोले से निकालकर खड़ा कर दिया। निर्णायक मण्डल देख रहा था कि केवल दो ही पहलवान मैदान में आये और बाक़ी किसी का पता नहीं। निर्णायकों को चुप देखकर शर्माजी तथा मिश्रबन्धु एक साथ बोल उठे—"जब समय हो गया है तो काम शुरू होना चाहिए कोई आये चाहे नहीं।"

निर्णायक मण्डल मुँह छिपाने लगा। अन्त में दृढ़ होकर सभापति ने कहा, "भक्तप्रवर सूर, सन्त कबीर और महात्मा तुलसीदास आदि प्राचीन तथा भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि अनेक नवीन महान् साहित्यकारों में कोई नहीं आया है। अस्तु, कार्यवाही उनके आने पर ही शुरू होगी क्योंकि यह हिन्दी के सम्मान का प्रश्न है।"

सभापति महोदय शायद कुछ और कहनेवाले थे परन्तु बीच ही में किसी ने टोककर कहा, "क्या प्रसादजी को भी यहाँ बुलाया गया है? उन्हें तो एक बार मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका है।"

शर्माजी वग़ैरह ने कहा, "यह प्रतियोगिता तो केवल प्राचीनों की ही है। नवीनों को इनमें नहीं बुलाना चाहिए था।"

और लोगों ने कुछ न कुछ कहा परन्तु उस कौवारोर में कुछ सुनाई न पड़ा। यह देखकर आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल उठकर जाने लगे। प्रबन्धकों ने दौड़कर उन्हें बैठाने का अनुरोध किया। द्विवेदीजी तो नहीं माने चले गये, परन्तु शुक्लजी शीलवश रुक गये। जब अधिक समय हो गया तो शर्माजी वग़ैरह ने फिर आपत्तियाँ उठायीं। इस बार प्रकाशकों के दल में कुछ सगबगाहट शुरू हुई और देखते-देखते गीता प्रेस ने गोस्वामी तुलसीदास को, ब्रजमण्डल ने सूरदास को तथा इसी प्रकार सरस्वती बुकडिपो ने प्रेमचन्द और नागरी प्रचारिणी सभा ने भारतेन्दु को अपने-अपने पाकेट से निकाल कर रख दिया। शेष सभी लोगों को एक साथ भारती भण्डार ने उपस्थित कर दिया। किताब महल ने भी एक अध्ययन सीरीज़ की पुस्तकों का टाल लगा दिया।

अब सरगरमी आ गयी। इसी तरह सभी लोगों ने अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मैदान में एक क़तार में खड़ा कर दिया। दर्शक देख रहे थे कि अनेक महाकवि छोटे पड़ रहे हैं। निर्णायक मण्डल ने आज्ञा दी जो चाहे अपने साहित्यकार को ऊँचा दिखाने के लिए पाँच मिनट तक अनेक सहायक साधनों का उपयोग कर सकता है।"

आलोचकों और प्रकाशकों ने काम शुरू किया। तुलसी को ऊँची एड़ी

की खड़ाऊँ पहनायी गयी, तो कबीर के सिर पर लम्बी टोपी रखी गयी, बिहारी को पगड़ी बाँधी गयी तो देव को भी उचकने के लिए सिखाया गया। तो ग़रज़ कि सबको अलग-अलग असली क़द से कुछ न कुछ ऊँचा दिखाया गया। अब संरक्षकों को अलग कर दिया गया। ज्यों ही नाप शुरू होनेवाली थी एक प्रकाशक ने पूछा, "क्या इन महाकवियों को ऊँचा सिद्ध करने के लिए उनकी लिखी पुस्तकों तथा उनसे सम्बद्ध आलोचना ग्रन्थों का उपयोग नहीं किया जा सकता।"

देव के समर्थकों ने सबसे पहले हल्ला मचाया—"ज़रूर-ज़रूर!"

निर्णायक मण्डल ने विवश होकर यह भी सुविधा दे दी। देखते-देखते मिनट-भर के भीतर न जाने कितने रिसर्च स्कॉलर तैयार किये गये और उन्हें अग्रिम डॉक्टरेट भी दे दी गयी। इस तरह बहुत-से महाकवियों के पैरों तले तो केवल सादे पन्नों का ही सजिल्द पुलिन्दा यह कहकर रखा गया कि यह अप्रकाशित थीसिस है। किसी की हिम्मत न थी जो उसका विरोध करता। कुछ लोगों को इसपर भी सन्तोष न हुआ। अतः एक समीक्षक महोदय ने जो सबसे लम्बे थे, प्रस्ताव किया कि क्या अपने-अपने प्रतियोगियों को ऊँचा दिखाने के लिए हम लोग अपने कन्धों का सहारा नहीं दे सकते?

पहले कुछ विरोध हुआ अन्त में डंके की चोट निर्णायक मण्डल ने यह निवेदन भी स्वीकार कर लिया। इस सुविधा के मिलते ही चारों ओर तहलका मच गया। पता न चला कि कौन दर्शक है और कौन प्रतियोगी। फलतः दर्शक कोई न रहा। पहले पुस्तकें रखी गयीं, उनपर खड़े हुए प्रकाशक, प्रकाशकों के ऊपर आलोचक और आलोचकों के ऊपर रखा गया स्वयं कवि को। परन्तु यह निर्णय इतना जल्दी नहीं हुआ। एक कवि के अनेक आलोचकों में इसके लिए भी बहुत हुज्जत हुई कि किसके ऊपर कौन रहेगा। अन्त में यह रास्ता निकाला गया कि ऊपर-नीचे रखने में तिथिक्रम का आश्रय लिया जाये।

बाज़-बाज़ आलोचक एक ही साथ अनेक कवियों के आलोचक थे।

अतः प्रकाशकों ने उन्हें बाध्य किया कि वे उन सभी कवियों को अपने ऊपर लादें। ऐसे आलोचकों का कचूमर निकल गया। एक अध्ययनवाले नवीन आलोचक को सबसे अधिक भार वहन करना पड़ा।

इसी बीच कुछ कवियों को फिर भी छोटा पड़ता देखकर स्वयं निर्णायकों में कानाफूसी होने लगी। धीरे-धीरे यह कानाफूसी बहस की ऊँचाई तक पहुँच गयी। प्रतियोगियों ने यह दशा देखकर निर्णायकों को भी अपनी-अपनी ओर खींचना शुरू किया। खींचतान इतनी हुई कि निर्णायकों में से किसी के तीन या चार टुकड़े हो गये। उस नापनेवाले आदमी के तो सैकड़ों टुकड़े हो गये। फिर भी लोगों ने सबको अपने-अपने स्तम्भों के नीचे रखा।

इस तरह जब पूरा स्तम्भ तैयार हो गया तो कोई देखनेवाला न रहा कि आखिर सबसे बड़ा कौन है; क्योंकि उन्हें आपस में लड़ते देखकर शुक्लजी वग़ैरह पहले ही चले गये। अब हर एक स्तम्भ अपने प्रतियोगी को बड़ा कहने लगा। नौबत हाथापाई की आ गयी। लोगों ने अपने-अपने शीर्षस्थ कवियों से पूछा कि बोलो कौन बड़ा है। परन्तु बार-बार पूछने पर भी कोई आवाज़ न आयी। चिढ़कर स्तम्भ में खड़े आलोचकों ने कहा कि अगर नहीं बोलते तो तुम्हीं नीचे आओ और हम स्वयं ऊपर जाकर बतायेंगे कि कौन बड़ा है?

कहते-कहते स्तम्भ के आलोचकों ने कवियों को पटक-पटककर स्वयं ही उनपर चढ़ना शुरू किया। अब प्रश्न यह नहीं रहा कि कौन कवि बड़ा है, प्रश्न यह हो गया कि कौन आलोचक बड़ा है? अब कोई आलोचक किसी को कन्धा देने के लिए तैयार ही न हो, यहाँ तक कि नये-नये डॉक्टरों ने भी अपने गुरुओं को शीश पर रखने से इनकार कर दिया। फिर क्या था? जबरदस्ती होने लगी। कोई उछलकर किसी के सिर चढ़ जाता और कोई किसी के सिर। अन्त में फ़ैसला न होते देख सभी लोग पारितोपिक के रुपये की ओर दौड़े परन्तु वहाँ पहुँचकर देखा गया कि उसे तो लेकर पहले ही कोई भाग गया था।

आलोचक-समुदाय अवाक् खड़ा-खड़ा देख रहा था कि 'माया मिली न राम।' उधर हमारे कवि धूल में तड़प रहे हैं। परन्तु उनकी फ़िक्र किसको? धरती रौंदी जाकर काफ़ी धँस गयी थी। चारों ओर गर्द छा गयी थी। उत्सुकतावश जनता की अपार भीड़ उमड़ी चली आ रही थी। कवियों की यह दशा देखकर उसने अपने हृदय की बाँहें बढ़ाकर महाकवियों को उठाना शुरू किया। सबकी ज़बान पर केवल यही वाक्य था—तुम हमारे कवि हो, यही क्या कम है! कौन बड़ा है—हमें इससे मतलब नहीं।

आलोचक-समुदाय भौंचक खड़ा देख रहा था। एक ने कहा—"यही तो हम भी कहते थे।"

उसके बाद क्या हुआ यह तो नहीं मालूम परन्तु अब जब कोई आलोचक किसी कवि पर क़लम उठाता है तो, सुनते हैं वह कवि दहल जाता है और आवाज़ आती है, हमें अनालोचित ही रहने दो।

जब मैंने सम्मेलन का यह काण्ड अपने एक प्रगतिशील समालोचक मित्र को सुनाया तो वे बोले—"अवश्य ही यह भारी ग़लती है। यही तो प्रतिगामियों का स्वभाव है। कवियों की जाँच ऊँचाई के अनुसार नहीं बल्कि चाल के अनुसार होनी चाहिए। अर्थात् मुख्य प्रश्न यह है कि कौन कवि सबसे तेज़ चलता है।"

मैंने कहा—"तब तो बड़ी मुश्किल है। चलने की होड़ में लोग दौड़ने भी लगेंगे।"

वे बोले—"ज़रूर-ज़रूर। वह तो होगा ही। होना ही चाहिए। और इसकी जाँच के लिए हम लोग अभी से कवियों को दौड़ाने का अभ्यास करा रहे हैं।"

मैंने पूछा—"परन्तु कहीं ऐसा न हो कि कवि लोग इतना आगे दौड़ जायें कि उनके साथ चलनेवाला आलोचक पिछड़ जाये और निर्णय ही न हो पाये।"

वे बोले—"ऐसा कैसे सम्भव है? साथ-साथ चलनेवाला आलोचक यान से रहेगा। फिर मंज़िले मक़सूद पर यह सब देखने के लिए मार्क्स

दादा तो खड़े ही हैं ।"

बहुत दिनों बाद सुना कि उस दौड़ के अभ्यास में मेरे वे प्रगतिशील आलोचक मित्र एक दिन मुँह के बल गिरे फिर भी उत्साह ठण्डा नहीं हुआ है। परन्तु तब से कवियों पर मातम छा गया है कि इस बार न जाने क्या होगा और जनता अपनी फ़सल की ओर देख रही है कि न जाने दौड़ किस जगह होगी ?

□ □

मोहन राकेश

विज्ञापन युग

□

मेरे पड़ोसियों की मुझपर ऐसी कृपा है कि रात को सोने तक और सुबह उठने के साथ ही मुझे ग़ज़लें, भजन और गीत और उनके साथ-साथ चाय, तेल और सिर-दर्द की टिकियों के विज्ञापन सुनने पड़ते हैं। अब तो मुझे ये विज्ञापन सुनने का ऐसा अभ्यास हो गया है कि अन्यत्र भी कहीं मैं ग़ालिब की ग़ज़ल सुनता हूँ, या सूरदास का भजन सुनता हूँ, या कोई अच्छा-सा गीत सुनता हूँ, तो साथ मेरे दिमाग़ में अपने-आप ये शब्द गूँजने लगते हैं—क्या आपके सिर में दर्द रहता है? सिर-दर्द से छुटकारा पाइए! एक गोली लीजिए—सिर-दर्द ग़ायब।

परिणाम यह है कि अब मेरे लिए कोई ग़ज़ल ग़ज़ल नहीं रही, कोई गीत गीत नहीं रहा, सब किसी न किसी चीज़ का विज्ञापन बन गये हैं। दिन-भर ये गीत और विज्ञापन मेरा पीछा करते रहते हैं। पहले बहुत मीठे गले में "रहना नहिं देश विराना है" की लय और उसके तुरन्त बाद क्या आपके शरीर में खुजली होती है? खुजली का नाश करने के लिए एक ही रामबाण ओषधि है–। कर लें। कबीर साहब क्या करते हैं? खुजली कम्पनी उनकी जिस रचना पर चाहे अपनी मोहर चस्पाँ कर सकती है।

और बात गीतों-ग़ज़लों तक ही सीमित नहीं है। मुझे लगता है कि मेरे चारों ओर हर चीज़ का एक नया मूल्य उभर रहा है, जो उसके आज तक के मूल्य से सर्वथा भिन्न है और जो उसके रूप को मेरे लिए बिलकुल बदल दे रहा है। कोई चीज़ ऐसी नहीं जो किसी न किसी रूप में किसी न किसी चीज़ का विज्ञापन न हो। अजन्ता के चित्र और एलोरा

की मूर्तियाँ कभी अछूती कला का उदाहरण रही होंगी, परन्तु आज उस कला को एक नयी सार्थकता प्राप्त हो गयी है। उन मूर्तियों का केश-सौन्दर्य आज मुझे एक तेल की शीशी का स्मरण कराता है, उनकी आँखें एक फ़ार्मेसी का विज्ञापन प्रतीत होती हैं और उनका समूचा कलेवर एक पेट्रोल कम्पनी की कलाभिरुचि को प्रमाणित करता है। जिन हाथों ने उन कला-कृतियों का निर्माण किया था, वे हाथ भी आज एक बिस्कुट कम्पनी की विकास-योजना के विज्ञापन के रूप में सार्थक हो रहे हैं।

देश के कोने-कोने में बिखरे हुए जितने मन्दिर हैं, जितने पुराने क़िले और खण्डहर हैं, जितने स्तम्भ और स्मारक हैं, वे सब इसीलिए हैं कि लोगों में यातायात की रुचि जाग्रत् हो, टूरिस्ट ट्रेड को प्रोत्साहन मिले, विदेश से लोग आकर उनकी तसवीरें लें और अपनी प्रियतमाओं के पास भेजें। मीनाक्षी और रामेश्वरम् के शिखर और खजुराहो के कक्ष इस दृष्टि से भी उपयोगी हैं कि एक विशेष ब्राण्ड के सीमेण्ट की मज़बूती को व्यक्त करने के प्रतीक बन सकें। कश्मीर की सारी पार्वत्य सुषमा, वहाँ की नव-युवतियों का भाव-सौन्दर्य और वहाँ के कारीगरों की दिन-रात की मेहनत, ये सब इस बात को विज्ञापित करने के उपकरण हैं कि सफ़ेद रंग का वह शहद जो बन्द डिब्बों में मिलता है, सबसे अच्छा शहद है। बर्नर्ड शा के नाटक हमें यह बतलाते हैं कि ब्रिटेन के किस प्रेस में छपाई सबसे अच्छी होती है, प्रशान्त-सागर में गिराये जानेवाले अणु बम हमें इस बात की चेतावनी देने के लिए हैं कि जबतक हम एक विशेष बीमा कम्पनी की पॉलिसी न ले लें तबतक हमारा भविष्य सुरक्षित नहीं और भारत और पाकिस्तान में कश्मीर के लिए झगड़ा इसलिए हो रहा है कि वहाँ के सेबों का मुरब्बा बहुत अच्छा होता है जिसे सिर्फ़ एक ही कम्पनी तैयार करती है।

विधना ने इतनी बारीकबीनी से यह जो धरती बनायी है और मनुष्य ने विज्ञान के आश्रय से उसमें जो चार चाँद लगाये हैं, वे इसीलिए कि विज्ञापन कला के लिए उपयुक्त भूमि प्रस्तुत की जा सके। उत्तरी ध्रुव से

दक्षिणी ध्रुव तक कोई कोना न बचा होगा जिसका किसी न किसी चीज़ के विज्ञापन के लिए उपयोग न किया जा रहा हो। हर चीज़, हर जगह अपने अलावा किसी भी चीज़ और किसी भी जगह का विज्ञापन हो सकती है। गेहूँ की फ़सल एक कपड़े की मिल का विज्ञापन है क्योंकि नयी फ़सल से प्राप्त हुए नये पैसे का एक ही उपयोग है कि उससे कपड़ा ख़रीदा जाये। कपड़े की मिल डबल रोटी की बेकरी का विज्ञापन है, क्योंकि मिल में काम करनेवाले तभी काम पर जा सकते हैं जब वे डबल रोटी खा चुकें। और बेकरी, वाटरप्रूफ़ जूतों का विज्ञापन है क्योंकि जब तक वाटरप्रूफ़ जूते न होंगे तब तक बारिश में इनसान डबल रोटी-जैसी साधारण चीज़ भी प्राप्त नहीं कर सकता। बहुत-सी चीज़ें एक-दूसरे का विज्ञापन हैं; फूल इत्र की शीशी का विज्ञापन है, इत्र की शीशी फूलों का विज्ञापन है। पत्र लेखक का विज्ञापन है, लेखक पत्र का विज्ञापन है। सौन्दर्य सौन्दर्य-साधनों का विज्ञापन है, और सौन्दर्य-साधन सौन्दर्य के विज्ञापन हैं। बहुत-सी चीज़ें अपना विज्ञापन आप देती हैं जैसे उपदेशकता, आलोचकता, नेतागिरी इत्यादि।

मुद्दआ यह कि जहाँ जायें, जिधर जायें, जहाँ रहें, जैसे रहें, इन विज्ञापनों की लपेट से नहीं बचा जा सकता। घर में बन्द होकर बैठ जायें तो विज्ञापन रोशनदानों के रास्ते हवा में तैरते आते हैं। क्या आज आपने दाँत साफ़ किये हैं ? सबेरे उठते ही सबसे पहले क्लोरोफ़िलवाले टुथ पेस्ट से दाँत साफ़ कीजिए। याद रखिए अपने दाँतों को रोगों से बचाने के लिए यही एक साधन है।—घर से निकलिए, हर दोराहे चौराहे और सड़क के खम्भे पर विज्ञापन—खतरे से सावधान—धोखे से बचिए इसके पढ़ने से बहुतों का भला होगा। अखबार उठा लीजिए, विज्ञापन। पुस्तक उठा लीजिए, विज्ञापन। बस में बैठ जाइए, विज्ञापन। क्या आपका दिल कमज़ोर है ? क्या आपका जिस्म टूटता रहता है ? क्या आपके सिर के बाल झड़ रहे हैं ! क्या आपके घर में झगड़ा रहता है ? गोया कि आपकी व्यक्तिगत ज़िन्दगी बिलकुल व्यक्ति नहीं है; उसे केवल इन विज्ञापनदाताओं

के परामर्श से ही जिया जा सकता है।

विज्ञापन-कला जिस तेज़ी से उन्नति कर रही है उससे मुझे भविष्य के लिए और भी अन्देशा है। मुझे लगता है कि ऐसा युग आनेवाला है जब शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति और साहित्य, इनका केवल विज्ञापन-कला के लिए ही उपयोग रह जायेगा। वैसे तो आज भी इस कला के लिए इनका खासा उपयोग होता है। वहुत-सी शिक्षण-संस्थाएँ हैं, जो साम्प्रदायिक संस्थाओं का विज्ञापन हैं। कई कला-केन्द्र कुछ स्वनामधन्य लोगों की दानवीरता का विज्ञापन मात्र है। अपनी पीढ़ी के कई लेखकों की कृतियाँ लाला छगनलाल मगनलाल या इसी तरह के नाम के किसी और लाला स्मारक निधि से प्रकाशित होकर लाला जी की दिवंगत आत्मा के प्रति स्मारक होने का फ़र्ज़ अदा कर रही हैं। मगर आनेवाले युग में कला दो क़दम और आगे वढ़ जायेगी। विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय के दीक्षान्त महोत्सव पर जो डिग्रियाँ दी जायेंगी, उनके निचले कोने में छपा रहेगा आपकी शिक्षा के उपयोग का एक ही मार्ग है—आज ही आयात-निर्यात का धन्धा आरम्भ कीजिए। मुफ़्त सूची-पत्र के लिए लिखिए—। हर नया आविष्कारक का चेहरा मुसकराता हुआ टेलीविज़न सेट पर आकर कुछ इस तरह का निवेदन करेगा—मुझे यह कहते हुए हार्दिक प्रसन्नता है कि मेरे प्रयत्न की सफलता का सारा श्रेय रवड़ के टायर बनानेवाली कम्पनी को है, क्योंकि उन्हीं के प्रोत्साहन और प्रेरणा से मैंने इस दिशा में क़दम वढ़ाया था। विष्णु के मन्दिर खड़े होंगे जिनमें संगमरमर की सुन्दर प्रतिमा के नीचे पट्टी लगी होगी—"याद रखिए, इस मूर्ति और इस भवन के निर्माण का श्रेय लाल हाथी के निशानवाले निर्माताओं को है। वास्तु-कला-सम्वन्धी अपनी सभी आवश्यकताओं के लिए लाल हाथी का निशान कभी मत भूलिए। और ऐसे-ऐसे उपन्यास हाथ में आया करेंगे जिनकी सुन्दर चमड़े की जिल्द पर एक ओर बारीक़ अक्षरों में छपा होगा—साहित्य में अभिरुचि रखनेवालों को इक्का मार्का साबुन बनानेवालों की एक और तुच्छ भेंट। और बात बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँच जायेगी कि

जब एक दूल्हा बड़े अरमान से दुलहिन ब्याह कर घर लायेगा और घूँघट हटाकर उसके रूप की प्रशंसा में पहला वाक्य कहेगा तो दुलहिन मधुर भाव से आँख उठाकर हृदय का सारा दुलार शब्दों में उड़ेलती हुई कहेगी—"बताऊँ मैं सुन्दर क्यों दिखाई देती हूँ ? यह इसलिए कि मैं प्रति प्रातः उठकर नौ-सौ इक्यानबे नम्बर साबुन से नहाती हूँ। कल से आप भी घर में नौ-सौ इक्यानबे नम्बर का साबुन रखिए। इसकी सुमधुर गन्ध सारा दिन दिमाग़ को ताज़ा रखती है और इसके मुलायम झाग से त्वचा बहुत कोमल रहती है। और इसकी बड़ी टिकिया ख़रीदने से पैसे की भी किफ़ायत होती है।" और इसके बाद उनका नौ-सौ इक्यानबे से सुगन्धित चेहरा दूल्हा के चेहरे के बहुत पास चला जायेगा।

जहाँ तक विज्ञापन के लिए जगह का सवाल है, बहुत-सी जगहें हैं जो अभी तक एक्सप्लायट नहीं की जा सकीं। क्योंकि विज्ञापन-कला की दृष्टि से सब चीज़ों का आपस में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है इसलिए दवाई की शीशियों में मक्खन के डिब्बों के विज्ञापन होने चाहिए और मक्खन के डिब्बों में दवाई की शीशियों के। चित्रकला गैलरियों में चित्रों के अतिरिक्त तेल के इश्तहार टाँगे जाने चाहिए और तेल की बोतलों पर चित्रकला-प्रदर्शिनी की सूचना चस्पाँ होनी चाहिए। कम्बलों और दुशालों में चाय और कोको के इश्तहार बुने जा सकते हैं। नमदे और ग़लीचे रबड़ सोल के जूतों के विज्ञापन का आदर्श साधन हो सकते हैं। बैंकों की दीवारों पर लाटरी और रेसकोर्स के विज्ञापन दिये जा सकते हैं। रेसकोर्स में बचत की स्कीमों का विज्ञापन दिया जा सकता है। रेल और हवाई जहाज़ के टिकिटों पर बीमा कम्पनियों का विज्ञापन हो सकता है और अस्पतालों की दीवारों पर मैट्रिमोनियल विज्ञापन लगाये जा सकते हैं।

यह तो आनेवाले कल की बात है, वैसे आज भी स्थिति यह है कि मुझे हर जगह विज्ञापन ही विज्ञापन दिखाई देते हैं—जहाँ विज्ञापन हों वहाँ भी, और जहाँ न हों वहाँ भी। मेरा मस्तिष्क हर चेहरे, हर ध्वनि, और हर नाम का सम्बन्ध किसी न किसी विज्ञापन के साथ जोड़ देता है।

मैं सुवह उठकर सामने की दुकान के लड़के को चाय लाने का आदेश देता हूँ तो चाय का नाम लेते ही मुझे नीलगिरि की सुन्दरी का ध्यान आ जाता है जिसका चेहरा मैं रोज़ अखवार में देखता हूँ और नीलगिरि के नाम से मुझे तुरन्त काफ़ी प्रदेश की ढलानें याद आ जाती हैं। साथ ही एक बुड्ढे राजपूत का चेहरा मेरी आँखों के आगे फिरने लगता है और मैं अनायास बुदबुदाने लगता हूँ—यह अच्छी काफ़ी और यह अच्छा चेहरा दोनों भारतीय हैं।

खैर, लड़का दो मिनिट में ही चाय की प्याली लेकर मुसकराता हुआ मेरे सामने खड़ा होता है। उसके अधखुले ओठों के बीच उसकी सफ़ेद दन्त-पंक्ति को देखकर मुझे लगता है कि वह विशुद्ध क्लोरोफ़िल मुसकराहट मुसकरा रहा है। अमरीकन मुहावरे में इसे "मिलियन-डालर स्माइल" कहते हैं। और वह लड़का है कि रोज़ छह पैसे की चाय की प्याली मुझे पकड़ाता हुआ एक मिलियन डालर की मुसकराहट मुसकरा जाता है। मेरी कई बार ख्वाहिश होती है कि लड़के को किसी क्लोरोफ़िल कम्पनी के हवाले कर दूँ, जिससे उसके दाँतों का सही मूल्य संसार के सामने आ सके। और जब मैं यह सोच रहा होता हूँ, तभी ईथर में तैरती हुई स्त्री-कण्ठ की सुमधुर आवाज़ सुनाई देती है—क्या आपका हाफ़िज़ा दुरुस्त नहीं है? अपना हाफ़िज़ा दुरुस्त करने की ओर आज ही ध्यान दीजिए—

मुझे ठीक मालूम नहीं कि मेरा हाफ़िज़ा दुरुस्त है या नहीं। मगर मैं किसी बच्चे को किलकारी मारकर हँसते देखता हूँ तो मुझे लाल डिब्बे में बन्द बेबी मिल्क की याद हो आती है। किसी सुन्दर दृश्य को देखता हूँ तो उनतीस रुपयेवाला कैमरा मेरी आँखों के आगे नाचने लगता है। विवाह-मण्डप के पास खड़े होकर मुझे नेशनल सेविंग्ज़ सर्टिफ़िकेट की याद ज़रूर आती है। मुहल्ले के लाल चौधरी मुझसे मिलने आते हैं तो मुझे लगता है कि विटामिन बी कम्प्लेक्स का विज्ञापन चला आ रहा है।

दफ़्तर की नयी टाइपिस्ट रोज़ी का समूचा व्यक्तित्व मुझे स्कारलेट रंग की लिपस्टिक का विज्ञापन प्रतीत होता है। और सच कहूँ तो हालत यहाँ तक पहुँच गयी है कि मैं आप शीशे के सामने खड़ा होता हूँ तो मुझे लगता है कि लिवर साल्ट का विज्ञापन देख रहा हूँ।

□ □

भारतभूषण अग्रवाल

गीत की खोज

□

करती है धरती पुकार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया।
टूटी है जीवन सितार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया।

काली घटाएँ, लो, छाया अँधेरा
बिजली लगाती है पल-पल पै फेरा
सहमा है सब संसार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया।
करती है धरती पुकार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया।

साँसों की बाती, है तेल नहीं बाक़ी
प्राणों के दीपक पै चोटें हवा की
झोंके हैं जैसे कटार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया।
करती है धरती पुकार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया।

कवि : कहो सेठ, कैसा लगा ?
सेठ : [व्यंग्य से] कहो सेठ, कैसा लगा ! मैं कहता हूँ तुम तीन हफ़्ते से मुझे उलटा-सीधा समझाते रहे और आखिर में

लिखकर लाये भी तो ये ?

कवि : क्यों, इसमें क्या खराबी है ?

सेठ : पूछते हो, क्या खराबी है ! मैं कहता हूँ इसमें है ही क्या ? आखिर ये तुमने लिखा क्या है ?

कवि : आपने कहा था न कि एक थीम सॉङ्[1] लिख लाना ।

सेठ : तो क्या यह थीम है सॉङ् ?

कवि : और नहीं तो क्या है सेठ ?

सेठ : यह थीम सॉङ् नहीं है, यह वाहियात सॉङ् है । समझे । मैं कहता हूँ, तुमसे कुछ नहीं होने का ।

कवि : क्यों ?

सेठ : पूछते हो क्यों ? तुम बुद्धू हो यों !

कवि : देखो सेठ, मुझे कुछ न कहो....।

सेठ : क्यों न कहूँ ?

कवि : इसलिए कि मुझे अपनी आलोचना सुनना गवारा नहीं, चाहे वह सच्ची ही क्यों न हो !

सेठ : और मुझे अपनी फ़िल्म चौपट नहीं करनी है, चाहे कम्पनी ही क्यों न फ़ेल हो जाये !

कवि : लेकिन आपको यह गीत पसन्द क्यों नहीं आया ? देखिए न, एक भी भद्दी बात नहीं है, एक भी संस्कृत का शब्द नहीं है, बड़ी चलती ट्यून है, और कहीं-कहीं तो मतलब भी बिलकुल साफ़ है । अब आप ही बताइए थीम सॉङ् में और क्या चाहिए ?

सेठ : चाहिए मेरा सिर ? तुमने कभी थीम सॉङ् लिखा हो, तब तो समझो । तुम्हें इतनी बार समझाया कि थीम सॉङ् वह कहलाता है, वह कहलाता है, जो—

---

१. Theme Song

कवि : पूरी फ़िल्म में दो-तीन बार गाया जा सके।
सेठ : बिलकुल ! अब यह दो-तीन बार कैसे गाया जायेगा !
कवि : क्यों, यह तो विलकुल आसान है। एक बार शुरू में गवा दीजिए, एक बार आखिर में, और एक बार कहीं बीच में—
सेठ : हाँ, हाँ, यह तो मैं भी समझता हूँ, पर शुरू में इसे गायेगा कौन ?
कवि : अब यह तो कहानी देखकर ही बताया जा सकता है।
सेठ : फिर वही, फ़िज़ूल की बात। मैं कहता हूँ, मैंने तुमसे कितनी बार कहा कि थीम सॉङ् वह कहलाता है, वह कहलाता है—
कवि : जो हर कहानी में फ़िट हो जाये !
सेठ : विलकुल। अब बताओ, यह कैसे फ़िट होगा।
कवि : आप करना चाहेंगे तो ज़रूर हो जायेगा।
सेठ : कैसे हो जायेगा ?
कवि : जैसे आप चाहें। कोई मुश्किल काम तो है नहीं।
सेठ : मैं कहता हूँ, अगर मुश्किल काम नहीं है, तो ज़रा करके बताओ।
कवि : अभी लीजिए, हाँ, तो कहानी क्या है ? औ। आइ एम सॉरी—माफ़ कीजिएगा, चमड़े की ज़बान ज़रा फिसल गयी।—हाँ तो, यों समझिए कि अगर हिस्टोरिकल फ़िल्म है तो, क़िले में बन्द बाग़ियों का गिरोह शुरू में यह थीम सॉङ् गाता है।
सेठ : लेकिन मैं हिस्टोरिकल फ़िल्म नहीं बनाना चाहता, समझे।
कवि : कोई मुज़ायका नहीं। मगर माइथोलॉजिकल[1] फ़िल्म है

---

१. Mythological.

तो मन्दिर की आरती के वाद भक्तगण यह थीम सॉङ् गाते हैं।

सेठ : मैं कहता हूँ, फ़िज़ूल की बात मत करो। माइथोलॉजिकल फ़िल्म से मेरी विलविड को सख्त नफ़रत है।

कवि : औ। आइ एम सो सॉरी ! क्षमा कीजिए। आइ मीन—माफ़ फ़रमाइए। हाँ, अगर सोशल फ़िल्म है तो—

सेठ : तो ?

कवि : तो भी कोई परवा नहीं। अगर सोशल फ़िल्म है तो सिनेमा हॉल पर टिकटों के लिए दस आनेवाली लाइन से यह कोरस गवा दीजिए।

सेठ : फ़ायदा ?

कवि : फ़ायदा यह कि शुरू में थीम सॉङ् को इण्ट्रोड्यूस करने की जो वात है वह पूरी हो जायेगी।

सेठ : लेकिन अगर कोई पूछेगा कि इनसे थीम सॉङ् क्यों गवाया, तो क्या जवाव दूँगा !

कवि : वहुत सीधा जवाव है।

सेठ : क्या जवाब है ?

कवि : यही कि अगर इनसे न गवाता तो किससे गवाता ? बोलिए, इसके बाद कोई कुछ कह पायेगा—सिवाय मेरे।

सेठ : तुम भी क्या कह सकते हो ?

कवि : मैं तो खैर बहुत कुछ कह सकता हूँ।

सेठ : मसलन !

कवि : मसलन यह कि अनाथालय के वच्चों से गवाया होता।

सेठ : वाह, वाह, शावाश ! यह है आइडिया। वाक़ई यह तो ग़ज़ब का थीम सॉङ् है।—और तीसरी बार गवाने के लिए क्या करेंगे, जानते हो ?

कवि : जी, आप जना दीजिए।

सेठ : मैं कहता हूँ, तीसरी बार के लिए हीरोइन से गवा देंगे।

कवि : पर यह फ़िट कैसे होगा? यह तो 'धरती की पुकार' है न?

सेठ : तभी तो कहता हूँ, तुम बुद्धू हो—अरे, इतना भी नहीं जानते? हीरोइन का नाम धरती रख देंगे। बस। पिक्चर कम्प्लीट!—वाह, वाह, भइ, क्या थीम साँङ् लिखा है तुमने, मान गये।

कवि : थैंक्यू, थैंक्यू! मैं जानता था कि आप इसे पसन्द करेंगे। शुक्रिया।....तो फिर दूसरा गाना—

सेठ : दूसरा गाना मैंने कहा था न—फिमेल सोलो होना चाहिए हीरोइन के वास्ते?

कवि : भला मैं भूल सकता हूँ।—लीजिए ये भी हाज़िर है।

सेठ : ज़रा रुक जाओ।—अरे देखो। ज़रा मिस जुही को तो बुलाओ। तुम्हें मालूम है, मैं मिस जुही को इस फ़िल्म में लीडिङ् रोल दे रहा हूँ।

कवि : वाह, तब तो बड़ा मज़ा आयेगा।

जुही : [फेड इन] कहिए सेठ! क्या बात है?

सेठ : कुछ नहीं, कुछ नहीं, ज़रा दो मिनट का काम है। प्रोडक्शन नं० २३, जिसमें तुम हीरोइन का काम करोगी, उसका यह एक गाना लिखकर लाये हैं। ज़रा तुम भी सुन लो।

जुही : ये!

कवि : जी हाँ, खाकसार ने ही लिखा है।—तो हाज़िर है—सुनाऊँ?

तुम सपनों में आये क्यों
आँखों में समाये क्यों
बोलो, पिया बोलो!

मुझे प्रीति का ज्ञान न था
मन में कुछ अरमान न था
तुमने नयन मिलाये क्यों
जी के तार बजाये क्यों
बोलो, पिया बोलो !

मुझे धूप का सोच न था
जलने का संकोच न था
बादल बनकर छाये क्यों
रस के कण बरसाये क्यों
बोलो, पिया बोलो !

फूल रही थी फुलवारी
मैं थी धुन में मतवारी
फूल देख मुसकाये क्यों
तुमने हाथ बढ़ाये क्यों
बोलो, पिया बोलो !

सेठ : कहो डार्लिंग, कैसा लगा ?

जुही : सिली, नॉनसेन्स, मैं कहती हूँ, ये भी कोई गीत है, जिसका सिर न पैर !

कवि : जी नहीं, यह तो आप ग़लत फ़रमाती हैं, क्योंकि इसका सिर भी है और पैर भी। देखिए न, पहली लाइन सिर है—और यह आखिरी लाइन पैर और—

जुही : बकवास मत करो।—तुम हमारा मज़ाक़ उड़ाते हो। हम यह गाना नहीं गायेंगी।

सेठ : लेकिन डार्लिंग, आखिर वजह भी तो बताओ। तुम चाहो तो इसमें कुछ रद्दोबदल कर दिया जाये।

जुही : रद्दोबदल से काम नहीं चलेगा। देखिए न। इसमें थ्रू आउट एक ऐसी टोन है, मानो मैं भीख माँग रही हूँ। बड़ा इन्फीरियोरिटी कम्प्लैक्स है इस गाने में।

सेठ : लेकिन यह बात तो सिचुएशन पर डिपेण्ड करती है। अगर इस गाने की टोन इस तरह की है, तो हम कहानी में भी ऐसी सिचुएशन लायेंगे कि यह फ़िट हो जायेगा।

जुही : कैसी सिचुएशन ?

सेठ : यही कि—मान लो—आइ मीन—जस्ट सपोज़—कि हीरोइन जो है वह विधवा माँ की ग़रीब लड़की है। और उसे हाल ही में एक मिडिल स्कूल में नौकरी मिली है। तब तो ठीक रहेगा।

जुही : और ये गाना विधवा माँ गाती है ?

सेठ : ह्वाट ! ओह डार्लिंग, तुम समझती क्यों नहीं ?

कवि : मैं बताऊँ ?

सेठ : कहो।

कवि : हीरो को बुलाइए, वही इन्हें समझा सकता है।

जुही : नॉन्सेन्स ! सेठ जी, इनसे कहिए, अपनी ज़बान पर ज़रा लगाम रखें। मैं इस तरह का मज़ाक़ बिलकुल पसन्द नहीं करती।

कवि : तो किस तरह का करती हैं, यह मालूम हो जाये तो—

जुही : शट अप !

सेठ : मैं कहता हूँ, यह क्या गड़बड़घोटाला है। ए पोएट, ज़रा तमीज़ से पेश आओ।—डार्लिंग। तुम भी ज़रा एक बार फिर सोचो—मुझे तो यह गीत अच्छा लगा। इसकी ट्यून बड़ी पॉप्युलर होगी। आखिर और कोई वजह ?

जुही : जो सिचुएशन आप बता रहे हैं, ये सिचुएशन भी मुझे पसन्द नहीं।

कवि : अगर इजाज़त हो तो मैं कुछ अर्ज़ करूँ।

सेठ : हाँ, हाँ।

कवि : इसके लिए आइडियल सिचुएशन तो यह रहेगी कि यह गीत हीरोइन की वजाय हीरो ही गा दे।

सेठ : कमाल की वात करते हो!—अरे ये फ़िमेल सोलो है या मेल सोलो है?

कवि : जी वात यह है कि यह तो सोलो है। अव ज़रूरत के मुताविक़ यह फ़िमेल सोलो भी बन सकता है, और मेल सोलो भी। वैसे फ़िमेल सोलो ज्यादा जँचता, पर जव इनकी मरज़ी नहीं, तो मेल सोलो ही सही।

सेठ : यह सही की भी खूब रही। भले आदमी, गीत की पहली लाइन है,' तुम सपनों में आये क्यों'।—इसका मेल सोलो कैसे वनेगा?—और इसे यों कर दें—'तुम सपनों में आयी क्यों'—तो वाक़ी सारी लाइनें बदलनी पड़ेंगी।

कवि : जी नहीं, कुछ नहीं वदलना पड़ेगा। ऐसा का ऐसा ही मेल सोलो हो जायेगा। कविता में इस तरह भी चल जाता है। और दो-एक फ़िल्म में भी ऐसा गीत गाया जा चुका है।

सेठ : गाया जा चुका है। तब तो यह पुरानी ट्रिक हो गयी। मैंने तुमको कहा था न कि मैं सारी चीजें एकदम नयी चाहता हूँ।

कवि : जी नहीं, गीत तो एकदम नया है, रात को ही लिखा है मैंने। लेकिन हाँ, कहने का ढंग ज़रा पुराना है। और यह निहायत जरूरी चीज़ है। क्योंकि अगर कुछ भी पुराना न रहे, तो जो आपके पुराने देखनेवाले हैं, उनके टेस्ट का क्या होगा?

सेठ : हाँ, यह तुम ठीक कहते हो।—तो डार्लिंग ! अब तो कोई ऑब्जेक्शन नहीं ?

जुही : जब यह मेल सोलो है तो मुझसे पूछने की क्या ज़रूरत, हीरो को बुलाइए।

सेठ : लेकिन हीरो तो अभी प्रोडक्शन नं. १८ में बिज़ी है।—यह तो बड़ी मुश्किल है। अब क्या होगा।

कवि : यह तो—

सेठ : डार्लिंग। मैं तो कहता हूँ, तुम एक बार और सोचकर देख लो। मेरी राय में तो यह गीत बहुत ही खूब है।

जुही : जी नहीं, रहने भी दीजिए। हर लाइन में 'क्यों, क्यों, क्यों,' सवालों के मारे नाक में दम—मानो एक्ज़ामिनेशन हॉल का गीत हो ! नहीं सेठजी, मैं यह गाना नहीं गा सकती !

कवि : देवीजी, क्यों मेरा नुक़सान करने पर तुली हुई हैं ? जैसे-तैसे तो एक गीत सेठजी को पसन्द आया है ! और कुछ नहीं तो मेरे लिए ही मंजूर कर लीजिए।

जुही : नो, नो, नो, जो चीज़ मुझे पसन्द नहीं वह मैं हरगिज़ पसन्द नहीं कर सकती। मैं यह गाना नहीं गाऊँगी।

कवि : लेकिन आपको थोड़े ही गाना होगा। गाना तो प्लेबैक सिंगर गायेगी। आप सिर्फ़—

जुही : ओह ! यू नॉन्सेन्स ! सेठजी, मैं अपनी तौहीन बिलकुल बरदाश्त नहीं कर सकती ! आइ कैन नॉट स्टॅण्ड इट ! आइ एम गोइंग—

सेठ : सुनो तो डार्लिंग, सुनो तो ! भई—मैं कहता हूँ, यह तुम कर क्या रहे हो। गीत लिखते हो, या मेरी फ़िल्म चौपट करने पर तुले हो ? अब दो दिन मिस जुही का मुँह टेढ़ा रहेगा।

कवि : इसमें मेरा कोई क़ुसूर नहीं—

सेठ : सरासर तुम्हारा क़ुसूर है, तुम्हीं ने तो—

कवि : जी नहीं, मैं चाहे कुछ कहता या न कहता, मिस जुही को नाराज़ होना था सो वह हो गयी।

सेठ : वजह !

कवि : मेरा अन्दाज़ है उनको कोई दूसरा ऑफ़र मिला है।

सेठ : यह बात है ? तो क्या तुम समझते हो मैं ऐसी छोकरियों-की परवा करता हूँ ! एक मिस जुही जायेंगी, पचास आयेंगी—

कवि : लेकिन सेठ जी, मेरा गीत तो सोलो है। वी नीड ओनली वन, हमें तो सिर्फ़ एक की ज़रूरत है।

सेठ : अरे ! वह तो चुटकी बजाते मिल जायेगी।—हाँ, तो यह गीत एकदम फ़र्स्ट रेट। पास। अब वह डुएट। यानी डुएट की बात आप एकदम भूल गये ?

कवि : जी नहीं, डुएट तो बल्कि मैंने इससे भी पहले लिखा था। वह तो मैं फ़िल्म के ऑर्डर से ही गीत सुना रहा था। लीजिए, डुएट सुनिए। वह चीज़ लिखी है कि हिन्दुस्तान को सिर पर उठा लेगी।

सेठ : सुनाओ ! अरे, हलो मि. नाथ। क्या शूटिंग खत्म हो गयी ?

नाथ : जी नहीं, खत्म क्या शुरू भी नहीं हुई। जिस पुल पर खड़े होकर मुझे ख़ुदकुशी के लिए कूदना था, वह पुल ही टूट गया। अभी रिपेयर हो रहा है।

सेठ : कोई परवा नहीं, तबतक तुम यह डुएट सुनो ज़रा। प्रोडक्सन नं. २३ का है, जिसमें तुम्हें हीरो बनना है। हाँ भई, हो जाये।

कवि : अभी लीजिए—ये रहा युगल गान—

हीरोइन : उड़ जा ओ मेरी कोयल ! तू दूर कहीं जा
साजन को खबर ला

हीरो : उड़ जा ओ मेरे भौंरे ! तू दूर कहीं जा
सजनी की खबर ला

हीरोइन : बेदरदी से जा कहना, क्या हमने बिगाड़ा है।
दिल लेके जो हमारा, दो टूक यों फाड़ा है।
कहना कि यह तो कह दो क्या है मेरी खता
साजन की खबर ला

हीरो : प्यारी से जा कहना, मजबूर हुए हैं हम
दिल चूर हुआ जब से यों दूर हुए हैं हम
उम्मीद के सहारे कब तक जियें बता
सजनी की खबर ला

सेठ : वाह, वाह ! क्या कोयल उड़ायी है, क्या भौंरा छोड़ा है !
मान गये दोस्त, तुम सचमुच पोएट हो।

कवि : थैंक्यू ! थैंक्यू !

नाथ : लेकिन सेठजी। आइ एम सॉरी, मेरा मतलब है, आइ बैग टु डिफर, यानी मैं इसको निहायत ल्हीचड़ और दो कौड़ी का गाना मानता हूँ।

कवि : क्या तीन कौड़ी का भी नहीं ?

नाथ : यू मिस्टर पोएट ! मेरे मुँह मत लगना, समझे। तुम्हें मालूम है मैंने प्रोडक्शन नं. १८ में विलेन की कैसी दुर्गति की है।

कवि : मैंने कहा श्रीमान्‌जी ! ज़रा होश की दवा कीजिए। वह दुर्गति तो फ़ोटोग्राफ़र ने की है, आपका उसमें क्या कमाल है ?

सेठ : मैं कहता हूँ, तुम्हारी यह क्या आदत है कि असली बात छोड़कर साइड लाइन्स में उलझ जाते हो ? डॉ., मिस्टर नाथ ! क्या मैं आपका ऑब्जेक्शन जान सकता हूँ ?

नाथ : देखिए सेठजी, फ़िल्मों के मामले में पब्लिक का टेस्ट बड़ी तेज़ी से रियलिज़्म की ओर जा रहा है। और यह गीत रियलिज़्म के खिलाफ़ है।

कवि : किस तरह ?

नाथ : इस तरह, कि खबर लाने, ले आने के लिए तार, चिट्ठी, टेलिफ़ोन, रेडियो-जैसे तरीक़े मौजूद होने पर बेचारी कोयल और भौंरे को जोतना अगेन्स्ट ऑल इण्टेलैक्चुअल डीसेन्सी, यानी दिमाग़ी शराफ़त के खिलाफ़ है।

कवि : वही बात हुई न कि वही बात। अरे साहब, कुछ मौक़े पर भी तो ग़ौर फ़रमाया होता।

नाथ : यानी इस गीत का कोई मौक़ा भी है ?

कवि : नहीं तो बे-मौक़े गीत क्या कभी अच्छा लगता है ?

नाथ : तो वह मौक़ा भी सुना डालिए।

कवि : जी, वह मौक़ा यह है कि हीरोइन तो ससुराल में है, और हीरो—

सेठ : और हीरो—

कवि : हीरो जेल में।

नाथ : जेल में। एप्सर्ड !! मैं जेल में क्यों ?

कवि : अरे साहब ! सचमुच की जेल में नहीं, फ़िल्मी जेल में।

नाथ : जी नहीं, जेल कैसी भी हो आखिर जेल है और मुझे जेल से सख्त नफ़रत है। इसीलिए मैंने अपना पोलिटिकल कैरियर छोड़ा। सेठजी ! यह गीत बदलवा दें।

सेठ : हद हो गयो मिस्टर नाथ। इस तरह से मेरा सारा कार-वार चौपट हो जायेगा। हीरोइन को फिमेल सोलो पसन्द नहीं, आप को डुएट पसन्द नहीं, आखिर फ़िल्म में गीत होंगे भी या नहीं?

नाथ : मैं तो सोचता हूँ विना गीतों के ही फ़िल्म बन सकती है।

सेठ : आप को हुआ क्या है? भला बिना गीतों के स्टोरी कहाँ से आयेगी? और बिना स्टोरी के फ़िल्म कैसे बनेगी?

कवि : यही तो यह नहीं समझते। गीतों पर ही तो सारा महल खड़ा होता है। यानी यों समझिए कि गीत एक तरह से वे दरवाज़े हैं जिनमें होकर स्टोरी फ़िल्म के अन्दर आती है। इसी लिए तो गीतों पर इतना ज़ोर है, और इसी लिए गीतों की इतनी तलाश है।

नाथ : तो आप करते रहिए तलाश। मेरे पास वक़्त नहीं, मैं चला।

सेठ : अरे! सुनिए तो मि. नाथ। मि.! लो, यह भी गये। लेकिन भई मि. नाथ एक वात पते की कह गये। पब्लिक का टेस्ट तो ज़रूर बदल रहा है। इधर कई पिक्चर फ्लॉप हो चुकी हैं। मैं तो सोचता हूँ, तुम अपने गीतों में थोड़ा-सा रियलिज़्म लगा लो, तो अच्छा ही रहेगा।

कवि : लेकिन यह कैसे हो सकता है?

सेठ : क्यों नहीं हो सकता?

कवि : इसलिए कि रियल्टी और गीत का मेल ज़रा मुश्किल है। आप ही वताइए आपने रियल लाइफ़ में किसी को गाते देखा है? सो भी डुएट और कोरस?

सेठ : क्यों, तमाम लोग गाते हैं!

कवि : जैसे ?

सेठ : जैसे, जैसे मेरा धोबी ही गाता है।

कवि : तो फिर कहिए तो फ़िल्म में एक धोबियों का गीत भी रख दूँ।

सेठ : लेकिन यह तो बहुत पहले एक फ़िल्म में आ चुका है।

कवि : अच्छा, मान लीजिए म्यूजिक स्कूल में गीत की रिहर्सल दिखायी जाये।

सेठ : कई बार हो चुका है।

कवि : यूनिवर्सिटी के जल से में कोरस ?

सेठ : पिट चुका है।

कवि : चैरिटी शो में डान्स ?

सेठ : यह भी हो चुका।

कवि : अच्छा, शादी में औरतों का गीत ?

सेठ : बहुत पुराना खयाल है।

कवि : ऊँटों का काफ़िला गाता हुआ जा रहा है।

सेठ : लेकिन मैं कहानी हिन्दुस्तान की चाहता हूँ।

कवि : मकान बनाते हुए मजदूर गा रहे हैं।

सेठ : बहुत बार गा चुके हैं।

कवि : तो फिर आप ही बताइए, मैं कहाँ से गीत लाऊँ।

सेठ : कोई नया बात सोचो।

कवि : नयी बात तो मि० नाथ बता रहे थे, आप को जँची ही नहीं।

सेठ : क्या ?

कवि : यही कि बिना गीतों के ही फ़िल्म बन सकती है।

सेठ : वाह ! ऐसा कभी हुआ है आज तक।

कवि : इसीलिए तो नयी बात है।

सेठ : बेकार की बातें मत करो। तुम्हें मालूम है, मैंने मिस फ़ातिमा को पाँच साल का कण्ट्रैक्ट दिया है, प्ले बैक का। फ़िल्म में गीत न हुए तो उसका क्या होगा ?

कवि : सो तो, मेरा भी क्या होगा ?

सेठ : बिलकुल ठीक।

कवि : तो फिर ?

सेठ : तो फिर क्या, कोई नया, फड़कता हुआ रियलिस्टिक गीत लिखो।

कवि : यही तो उलझन है। आज की लाइफ़ में रियल्टी और गीत दोनों एक साथ नहीं मिलते।

सेठ : ज़रा मेहनत करो, ज़रा तलाश करो। खोजने से सब मिलता है। ऐसा गीत भी मिलेगा ?

कवि : यानी अब गीत लिखने की बजाय गीत की खोज करूँ।

सेठ : हर्ज क्या है।

कवि : यानी गीत की खोज—गीत की खोज—वो मारा।

सेठ : क्या हुआ ?

कवि : गीत मिल गया सेठ ! जैसा गीत चाहते थे, बिलकुल वैसा ही—गीत का गीत और रियल्टी की रियल्टी। लीजिए सुनिए—

जीवन की राह में गीत कहाँ है।
गीत कहाँ है।
आओ मन ! वहाँ चलें गीत जहाँ है।
गीत जहाँ है।
गीत नहीं है तो फिर ज़िन्दगी है सूनी।

दर्द को अँधेरी यह रात हुई दूनी।
चुप न रहो, बात करो।
रात को प्रभात करो।
गीत भी मिलेगा वहीं प्रीत जहाँ है।
प्रीत जहाँ है।

□ □

धर्मवीर भारती

गुलिवर की तीसरी यात्रा

[एक समुद्री कहानी]

□

जब भाई गुलिवरजी लिलीपुट और ब्राडविगनैग की यात्राएँ कर इंगलैण्ड वापस आये तो उनकी उम्र ढलने लगी थी। एक दिन शीशा देखते हुए उन्हें अपने सिर में एक सफ़ेद बाल दीख पड़ा। सफ़ेद बाल को देखते ही उनमें आत्मज्ञान जागा और उन्होंने सोचा कि जो कुछ भी करना है वह जल्दी कर डाला जाये। बस झट से उन्होंने एक शॉपगर्ल (सौदा बेचनेवाली लड़की) से शादी कर ली। एक छोटा-सा बँगलेनुमा मकान खरीद लिया। दो-चार मुर्ग़ियाँ और दो-चार बत्तकें पाल लीं। घर के सामने थोड़-सा टमाटर-पालक-धनियाँ वग़ैरह बो लिया जहाँ सुबह धूप में आरामकुरसी डालकर वह धूप खाते थे और पत्रिकाएँ पढ़ते थे जिनमें उनकी कविताएँ छपा करती थीं। एक प्रति तो उन्हें नियमित रूप से मिलती थी और दो-चार प्रतियाँ वे सम्पादक की निगाह बचाकर उठा लाते थे जिससे वे उधार चुकाया करते थे।

बहरहाल, चढ़ता हुआ बुढ़ापा, नयी-नयी बीवी, जाड़े की हलकी सुनहली धूप और मुफ़्त की पत्रिका—ऐसे-ऐसे संयोग जुड़े कि भाई गुलिवरजी एकाएक काव्यप्रेमी हो गये। अखबार की दूकान पर जाकर वे पत्रिकाएँ उलटते-पलटते कविताएँ पढ़ते और रख देते। इस तरह मुफ़्त काव्य-रस पान कर तृप्त होकर घर लौट आते।

एक दिन जब उनकी पत्नी बाग़ के कोने में शलजम खोद रही थी, भाई गुलिवरजी चुपचाप बैठे अनन्त की ओर देख रहे थे। एकाएक उनके हृदय-पटल पर अतीत स्मृतियाँ चमक उठीं—कैसा अजब था वह बौनों का

देश ! और उससे भी भयावना था वह देवों का, महामानवों का देश !! लेकिन उनसे एक भयानक भूल हो गयी थी। वह दोनों द्वीपों में गये किन्तु उन्होंने लिलीपुट और ब्राडविगनैग कहीं के भी कवि के दर्शन नहीं किये थे। यह बात उनके मन में रह-रहकर खटकने लगी। सहसा उनकी पुरानी यात्रा-प्रवृत्ति उबल पड़ी और उसी क्षण उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे यह यात्रा करके ही रहेंगे।

जब उन्होंने यह निर्णय पत्नी को बताया तो वह रोयी और उसने खाना-पीना छोड़ दिया। लेकिन गुलिवर भाई घुमक्कड़ ठहरे। वे तो चल ही दिये। अन्त में हारकर उनकी जवान पत्नी ने आँसू पोंछे, आँखों के नीचे बैंगनी पाउडर लगाया। परदेशी पति की याद में काले वस्त्र धारण किये और पड़ोसी के साथ सिनेमा देखकर और पिकनिक जाकर किसी तरह विरह की घड़ियाँ काटने लगी।

गुलिवर भाई ने अपनी किश्ती मझधारे में छोड़ दी। पहले दिन तूफ़ान आया, दूसरे दिन नरभक्षी चिड़िया ने उनके जहाज पर हमला कर दिया। तीसरे दिन उनके रास्ते में बर्फ़ का तैरता हुआ पहाड़ आ पड़ा, चौथे दिन ये एक चट्टान से टकराते-टकराते बचे, पाँचवें दिन ह्वेल मछली ने पूँछ मार दी, छठे दिन इन्हें हाई ब्लडप्रेशर हो गया और जब ये अपने जीवन की सारी आशा छोड़ चुके थे तो सातवें दिन इन्हें किनारा नज़र आया। ये नन्हे-नन्हे हाथ-भर के पेड़, दो या तीन बीते की ताल-तलैया, दस फ़ीट ऊँचे उत्तुंग पर्वत-शिखर—वह लिलीपुट को खूब पहचानता था। लिलीपुट के बौने सभी इन्हें पहचानते थे। गुलिवरजी ने उन्हें छोटी-छोटी आलपीनें बाँटनी शुरू कर दीं जिन्हें वे खुशी-खुशी घर लाये।

अन्त में गुलिवरजी ने अपने मतलब की बात पर आना ठीक समझा। एक बौने को हथेली पर उठाकर चेहरे के सामने कर लिया और उससे कवि का पता पूछा। यह देखकर कि इस महामानव गुलिवर के मन में भी काव्य-प्रेम उमड़ा है, बौना बड़ा खुश हुआ। उछलकर उनके कन्धे पर जा पहुँचा और नाचने लगा। अन्त में इनके कर्णविवर में मुँह डालकर

उसने भाव-विभोर स्वर में कहा—"तो तुम हमारे कवि को देखने आये हो। कैसा स्वर्गोपम रूप है उसका। उसकी आँखें स्वप्नाच्छन्न हैं। वह बिलकुल देवकुमार है, धूप में कुम्हला जाता है। वह इन्द्रधनुष है, गुलाब का फूल है, कुम्हड़बतिया है।"

"हाँ, हाँ, वह रहता कहाँ है। मैं उसके दर्शन करूँगा।"

"दर्शन करोगे?" बौना घबरा गया। उलटकर गुलिवर की जेब में गिर पड़ा। गुलिवर ने निकाला तो वह काँपते हुए बोला—"लेकिन वह बहुत सुकुमार है। लिलीपुट की अनिन्द्य सुन्दरियाँ भी उसकी कोमलता के आगे लजा जाती हैं। वह तुम्हें देखकर भय से प्राण त्याग देगा और हम कवि-विहीन हो जायेंगे।"

खैर, गुलिवर ने बहुत समझाया-बुझाया, आश्वासन दिया तो बौना बोला—"बुझे हुए सितारों की घाटी में एक आश्रम है। वहाँ एक महान् सन्त रहता है जो नली से पानी पीता है और जिसे झरोखे में से खाना पहुँचाया जाता है। वह नक्षत्रों से बात करता है। खरगोश और चूहे उसके शिष्य हैं। उसी सन्त के आश्रम में हमारा कवि रहता है।"

गुलिवर साहब वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कि कविजी यहाँ से लिलीपुट के दूसरे नगर में पहुँच गये। गुलिवर साहब ने सन्त को प्रणाम किया और कवि के नगर की ओर चल दिये। नगर लिलीपुट के दूसरे छोर पर था क्योंकि गुलिवरजी को वहाँ पहुँचते-पहुँचते पूरे बाईस मिनट सात सेकेण्ड लग गये।

उस नगर के समीप पहुँचते-पहुँचते भाई गुलिवरजी को लगा कि वायुमण्डल में अनगिनत ध्वनि-तरंगें गुंजन करती हैं। बालू के टीले के पास झाड़ियों से घिरा हुआ समुद्र-तट पर कवि का नीड़ था। वह नीड़, जिसे गुलिवर लेखक-घर कहेंगे, बड़ा ही सुन्दर बना था और चक्करदार था। यानी वक़्त जरूरत उसे उत्तर-पच्छिम, पूरब-दक्खिन किसी ओर भी घुमाया जा सकता था। कविजी जिस तरफ़ हवा का रुख देखते थे अपने नीड़ को उधर ही घुमा लेते थे।

गुलिवर को देखते ही कुछ बौने तो डर के मारे भागे, कुछ जो उसके पूर्वपरिचित थे हाथ उठाकर देखने लगे। कुछ झट से उसके पाँवों के सहारे चढ़कर उसके दामन से झूलने लगे और उससे उसका कुशल-क्षेम पूछने लगे। उन्हें यह जानकर बड़ी ही निराशा हुई कि भाई गुलिवरजी अब बहादुर जहाजी न रहकर काव्य-प्रेमी हो गये हैं।

पूछने पर मालूम हुआ कि कवि अभी प्रभु की वन्दना कर रहा है। गुलिवर ने प्रतीक्षा की और जब कवि प्रभु-वन्दना समाप्त कर चुका तब दो बौने एक इमली की पत्ती पर थोड़ा सा नमकीन समुद्र फेन ले आये। कवि इसी से नाश्ता करता था क्योंकि भारी चीज़ उसे हज़म नहीं हो पाती थी। पहले उसने धरती से उत्पन्न होनेवाला पार्थिव भौतिक जीवन-दर्शन आज-माया और फिर स्वर्ग-नक्षत्र से झरनेवाला आध्यात्मिक जीवन-दर्शन लेकिन वह उतना सुकुमार था कि दोनों को पचा नहीं पाया।

लेकिन कठिनाई यह थी कि वह कवि से बातें करे तो कैसे। जिस घर में कवि रहता था उसमें तो गुलिवर बैठ भी नहीं सकता था, घुस भी नहीं सकता था। अन्त में गुलिवर ने दोनों हाथों से थामकर उस घर को नींव सहित उखाड़ लिया और सामने एक पेड़ पर उसे टिकाकर बैठ गया।

गुलिवर ने देखा—कवि शान्ति से बैठा नाश्ता कर रहा है! कवि सचमुच बहुत सुन्दर था। जौ के बराबर उसकी नन्ही-नन्ही आँखें स्वप्नाच्छन्न थीं। उसका रत्ती-भर का माथा था जिस पर स्वर्ण अलकें क्रीड़ा करती थीं। उसकी बोली, उसका बाल, उसका कोट-पैण्ट, जूता सभी अपने ढंग का अनोखा था।

कवि ने गुलिवर को देखा और मुसकराकर हाथ बड़े कलात्मक ढंग से हिलाकर कहा—"आइए।" गुलिवर ने श्रद्धा से हाथ जोड़े। कवि की शिष्टता और मधुरता देखकर उसकी आँखों में आँसू आ गये। रुँधे गले से बोला—"धन्य! आज मेरा जीवन सफल हो गया।"

"जीवन"! कवि बड़े निराश स्वर में बोला—जैसे शाम की उन्मन

घण्टियाँ बज रही हों। "जीवन क्या है ? हम लोग तो बौने हैं। हमारा जीवन क्या है ? वायु से भटकती हुई चेतना-तरंगों का कोई रूप होता है ? कोई नाम होता है ? नाम और रूप से बँधे हुए तत्त्व का नाम ही तो तरंग है। और यह क्रियाएँ ही जीवन हैं। जैसे यह विजली है—उस समय लिलीपुट में बिजली लग गयी थी—इनमें ज्योति दीखती नहीं, बटन दबाइए तो बिजली जगमगा उठती है।" 'बटन' फिर कहते हुए उसने गहरी साँस ली और अधमुँदी पलकों से क्षितिज की ओर देखने लगा। उसकी पलकों पर स्वप्नों की घाटियाँ उतर आयीं। उसका वक्ष श्वास-प्रश्वास से परिलक्षित होने लगा।

धीरे-धीरे कवि ने आँखें खोलीं और बहुत धीमे स्वर में बोला—"मैं बहुत थक गया हूँ।" वह गद्देदार सोफ़े पर लेट गया और गुलिवर ने बिजली का पंखा खोल दिया। कवि ने करवट बदली और कहा—"बड़ी गरम हवा इस पंखे से आती है।" गुलिवर ने पूछा—"दरवाज़ा घुमाकर समुद्र की ओर कर दूँ ?" तो कवि ने हाथ उठाकर कहा—"नहीं-नहीं ! मेरे लघु-लघु गात पर सागरसमीर आघात करती है।"

अब गुलिवर ने कवि के कमरे की ओर निगाह डाली। लिलीपुट में इससे सुन्दर कमरा कोई नहीं था। नीचे सुन्दर फ़र्श-तख्त पर मखमली गद्दे—सुन्दर कलात्मक तकिये। एक कोने की मेज़ पर दर्पण, शृंगार मंजूषा, स्नो, तेल, नेलपॉलिश, रूज् और भाँति-भाँति के इत्र। दीवार पर एक उसी स्नो कम्पनी का कलात्मक कैलेण्डर, दूसरे कोने में एक कम उम्र की लड़की का चित्र।

"यह लड़की"—कवि लजा गया। उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद गहरी साँस लेकर बोला—"प्रेम मन को तपाकर स्वर्ग बनाता है। प्रेम दिव्य है। पावन है। स्वर्गोपम।"

गुलिवर ने कवि की बोली सुनी और अपनी इंग्लैण्ड प्रवासिनी पत्नी की याद कर उसकी आँख में आँसू आ गये।

कवि लेट रहा—"यह खिड़की बन्द कर दीजिए। चिड़ियाँ शोर

करती हैं।" उसने कहा।

"तो आप जनता में कैसे मिलते होंगे?" गुलिवर ने पूछा।

"जनता में बहुत घुलमिल नहीं पाता। एकान्त मुझे अच्छा लगता है। कभी-कभी महाराज की वर्षगाँठ पर गीत सुनाने अवश्य जाता हूँ। पर वह बात दूसरी है।" थोड़ी देर दोनों चुप रहे। फिर कवि ने पूछा—"गीत सुनिएगा?"

गुलिवर के मुँह में पानी भर आया लेकिन बोला, "आप को कष्ट होगा।"

कवि बहुत अतिथि-सत्कारी था। बोला—"नहीं, नहीं, मुझे स्वयं नहीं गाना पड़ेगा। अलिरे से काम चल जायेगा।"

"अलिरे? अलिरे क्या है?" गुलिवर ने पहली यात्रा में काफ़ी लिली-पुटीय भाषा सीख ली थी। पर यह शब्द उसके लिए बिलकुल नया था। "अलिरे आप नहीं जानते?" कवि मुसकराया। उसने झुककर कोने में पड़ा हुआ एक कीड़ा उठाया और उसे टाँग दिया। वह झींगुर-जैसा लगता था। थोड़ी देर उसमें से वैसी ध्वनि आती रही जैसे जिन्दा झींगुर झनकारते थे। फिर एकाएक उसमें से अजब-अजब संगीत आने लगे।

गुलिवर चकित था। यह कैसा जादू का खेल है। यह मुरदा झींगुर गाता कैसे है? विस्मय से उसके बोल नहीं फूट रहे थे।

"झींगुर?" कवि हँसा—"यह झींगुर नहीं है श्री गुलिवरजी! यह 'अलिरे' है।"

"अलिरे? यानी भँवरा?"

"नहीं, हाँ इसका कलात्मक अर्थ तो यही है। वैसे अलिरे के अर्थ हैं अखिल लिलीपुटीय रेडियो।—पहले यह एक वैज्ञानिक यन्त्र मात्र था। फिर इसका सांस्कृतिक चेतना से समन्वय हो गया तो यह अलिरे हो गया।" उसके बाद फिर एकाएक कवि की आँखें स्वप्नाच्छन्न होने लगीं। वह क्षितिज की ओर देखने लगा और बोला—"यह अलिरे क्या है? केवल एक देह रूप मात्र। यह चेतना, भू-चेतना, लोक-चेतना किसी में भी अपने

को व्यक्त कर सकती है। यह अलिरे, मैं, सभी तो उसी की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। रूप धारण कर लेते हैं तो हम हैं आप हैं यह अलिरे है। अन्यथा सभी एक अव्यक्त चेतना है।" गुलिवर की समझ में कुछ नहीं आया। लेकिन कवि की वाणी में सबसे बड़ा सौन्दर्य यही था। उसकी शैली में अत्यधिक माधुर्य था, चित्रात्मकता थी, बड़ा सौन्दर्य था। उसकी शैली में पॉलिश थी, सोने का पानी चढ़ा था, भाषा जगमगाती थी लेकिन उसका तात्पर्य समझ में नहीं आ सकता था। गुलिवर इस भाषा-शैली से मुग्ध तो था, लेकिन फिर भी बोला—

"लेकिन यह झींगुर सरीखी चीज़ तो बड़ी घिनौनी है। कुरूप है। यह सौन्दर्य-प्रदर्शिनी-जैसा आपका कमरा! आपकी नाज़ुक अभिरुचि और कहाँ यह गन्दा यन्त्र? नाम अलिरे तो सुन्दर है लेकिन—"

"लेकिन परन्तु व्यर्थ है।" कवि ने बात काटकर कहा—"प्रभु की इच्छा है। नियति की आज्ञा है। अन्यथा मुझे क्या लेना-देना है! हाँ, इससे कुछ मित्रों से सम्पर्क बना रहता है।"

"कैसे?" गुलिवर ने पूछा।

"बात यह है कि दिन में तीन बार सभी कलाकारों के गीत, अपने नाटक, अपने उपदेश, अपनी डायरी, अपनी आत्मकथा, अपनी कहानी, अपने धोबी का हिसाब, अपनी आलोचना, अपना फ़ीचर, अपने उपन्यास विस्तारित होते हैं। इससे सुननेवालों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होता है। अच्छा अब रूप-स्नान का समय आ गया सुनिए।"

'रूप-स्नान' के विषय में जिज्ञासा करने पर ज्ञात हुआ कि दिन में तीन बार कार्य-क्रम होता है। प्रातःकाल 'रूप-स्नान', दोपहर को स्वप्न-विश्राम', रात को 'हृदय-स्पर्श।'

जिस प्रकार अलिरे ने अपने यहाँ के कवियों को सम्मान दे रखा था उससे गुलिवर बहुत प्रभावित हुआ और उसकी तुलना में अपने यहाँ के बी. बी. सी. के कार्यक्रमों को गालियाँ देता हुआ कवि को श्रद्धा से नमन-कर अपने जहाज़ को लौट आया।

दूसरे दिन स्वयं कवि उनसे मिलने आया और गुलिवर के भावी कार्य-क्रम के बारे में पूछता रहा। जब उसने बताया कि वह ब्राडबिगनैग के कवि से भी मिलने जायेगा तो लिलीपुट के कवि की आँखें फैल गयीं और वह दहशत से देखने लगा।

गुलिवर ने कारण पूछा तो वह बोला—"ब्राडबिगनैग का कवि बड़ा क्रूर है। एक बार मैं उससे मिलने गया तो उसने मुझे अपने हृदय से लगा लिया। मेरा पाँव उसके बटन में फँस गया और मुझे मोच आ गयी। मैं दो माह तक अस्वस्थ रहा।"

"लेकिन यह तो उसके स्नेह का प्रभाव है।"

"सो तो है।" कवि ने लट छिटकाकर भौं मटकाकर कहा—"लेकिन जब कोई पर्वताकार व्यक्ति मुझ-जैसे छोटे-से बौने को अपने हृदय से लगाना चाहता है तो उससे भी मुझे कष्ट हो जाता है। और वैसे भी वे मुझे तंग करते हैं, वे बड़े क्रूर हैं।"

अन्त में कवि स्नेह-अभिवादन कर चला गया।

एक दिन विश्राम कर दूसरे दिन गुलिवर ने ब्राडबिगनैग के लिए जहाज़ खोला। लिलीपुट से ब्राडबिगनैग का रास्ता काफ़ी सीधा था। छह रोज़ में जहाज़ पहुँच गया। ब्राडबिगनैग लिलीपुट का सर्वथा उलटा, देवों का द्वीप था। ऊँचे-ऊँचे साठ-सत्तर फ़ीट के लोग हाथी की तरह झूमते थे। सबसे पहले गुलिवर ने जहाज़ को पहाड़ के पीछे छिपा दिया कि कहीं कोई देव उसे खिलौना समझकर उठा न ले जाये। वह इस पशोपेश में था कि कवि का पता किससे पूछे क्योंकि यहाँ निवासी उसे देखते ही खिल-खिला उठते थे, उसे एक हाथ से दूसरे हाथ में उछालने लगते थे या आइसक्रीम में तैराने लगते थे।

ब्राडबिगनैग में उस दिन बड़ा उत्सव मनाया जा रहा था। वह ब्राड-बिगनैग की भाषा समझता था। बग़ल से जाते एक देव ने अखबार में लपेटे खिलौने रखकर अखबार नीचे फेंक दिया। गुलिवर चुपचाप खड़ा रहा। इतना लम्बा-चौड़ा था वह अखबार कि उसे उठाना तो दूर रहा जब

गुलिवर दस क़दम चल चुका तब वह शीर्षक तक पहुँचा और एक-एक अक्षर जोड़कर उसने पढ़ा कि आज ब्राडबिगनैग के महाराज के भतीजे का जन्म-दिवस है। "बस-बस पता चल गया कवि यहीं होगा।" गुलिवर गिरता-पड़ता उसी ओर दौड़ा।

राजमहल में निगाह बचाकर सिपाहियों के पैर के नीचे से होता हुआ किसी तरह अन्दर पहुँचा। अन्दर बड़ी धूमधाम थी। पहले शहनाई बजी, फिर उसके बाद द्वीप-भर के देश-भक्त जिन्हें परमिट लेना था, हाथ के कते-बुने कपड़े पहनकर आये और उन्होंने उसके चित्र लिये, डाकूमेण्टरी फ़िल्मवालों ने उसकी फ़िल्में बनायीं, ब्राडबिगनैग रेडियो ने रिले किया। लेकिन कवि कहीं नहीं दिखाई पड़ा। गुलिवर कुछ निराश-सा हो गया।

इतने में उसे वह किसान दीख पड़ा जिसके यहाँ वह पहली यात्रा में रह चुका था। किसान बहुत बूढ़ा हो गया था। उसकी कमर झुक गयी थी। वह हाँफ-हाँफकर चलता था। गुलिवर एक छलाँग मारकर उसकी जेब में जा पहुँचा। किसान गुलिवर को देखकर बहुत खुश हुआ। गुलिवर ने उससे पूछा—तो उसने कहा—"ब्राडबिगनैग का कवि? तो तुम तो बहुत उलटी दिशा में चले आये। वह तो वहाँ रहता है द्वीप के उस छोर में जहाँ ग़रीब ग़ोताख़ोर लोग रहते हैं।"

"वहाँ?"

"हाँ, वहीं एक छोटे-से अस्तबल में रहता है। परसों मेरे पास आया था। मेरे बीमार बच्चे को कम्बख्त उठाकर चला गया। तुम उसके पास जाकर क्या करोगे?"

"दर्शन करूँगा!"

"दर्शन करोगे?" गुलिवर को हाथ से दबाये हुए वह बुड्ढा राजमहल में आया और बाहर आकर ठठाकर हँसा—"तुम उसके दर्शन करोगे? तुम्हारे-जैसे कीड़े-मकोड़े को तो वह चुटकी में मसल देता है।"

लेकिन गुलिवर अपनी ज़िद्द पर अड़ा रहा। अन्त में बूढ़े से विदा होकर वह ग़ोताख़ोरों की बस्ती की ओर चल पड़ा। वह ब्राडबिगनैग के

उन ग़ोताख़ोरों की वस्ती थी जो नर-भक्षी मछलियों से लड़कर मूँगा और मोती बटोरते थे। और शाम को आकर राजा के सिपाही उनसे मूँगा और मोती छीन लेते थे। ब्राडविगनैंग का सारा वैभव उन्हीं के कारण था पर ये चीथड़ों में लिपटे रहते थे। ब्राडविगनैंग के कवि ने राजमहल छोड़कर अपने लिए यही मुहल्ला चुना था।

वह एक छोटा-सा अस्तबल था और उसमें कवि तनकर खड़ा भी नहीं हो सकता था। कवि एक विशाल हिमशिखर की भाँति था और चलता था तो लगता था पर्वत डोल रहा हो। लगता वह एक हाथ उठाये तो आसमान से चाँद और सूरज तोड़ लाये और क़दम उठाये तो तीन क़दमों में वसुधा को नापकर फेंक दे—उसकी सरलता, स्नेह और ममता !

गुलिवर ने जाते ही उसके पैर पर सिर रख दिया। पहले तो उसने समझा कि कोई कीड़ा-मकोड़ा उसके पाँवों पर चढ़ आया है, और दो दफ़े पाँव पटक दिया। गुलिवर दस फ़ीट दूर जा गिरा। लेकिन फिर धूल झाड़कर उठ खड़ा हुआ और कवि के पैरों पर गिर पड़ा। इस बार कवि ने नीचे देखा और गरज उठा—"कीड़े तेरी यह हिम्मत ?" और उसने गुलिवर को पकड़कर लटका लिया। थोड़ी देर तक उसे हवा में झुलाता रहा और फिर बोला—"पटक दूँ ? तेरी हड्डी-पसली बिखर जाये ?" गुलिवर की घिग्घी बँध गयी। कवि ने उसे एक खूँटी पर टाँग दिया—"कहाँ से आया है ?"

"इंगलिस्तान से।"

"इंगलिस्तान से।"

"वहाँ के सम्राट् ने मेरे नाम वारण्ट निकलवाया है। मैं सब जानता हूँ इंगलिस्तान का सम्राट्, मेरे सम्राट्, दुनिया-भर का सम्राट् मेरा राज जानना चाहते हैं लेकिन मैं यूँ चुटकी से उन्हें मसल दूँगा।"

गुलिवर कुछ नहीं बोला—उसके प्राण कण्ठ तक आ गये थे। इस

हत्यारे काव्य-प्रेम ने उसे कहाँ ला पटका? थोड़ी देर में कवि ने उसे उतारकर ज़मीन में रख दिया। "तुम मेरा राज़ जानना चाहते हो? भाग जाओ, अभी भागो वरना—" और इसके पहले कि कवि अपने विचारों को कार्यान्वित करे गुलिवर जान' छोड़कर भागा। चलते-चलते रात हो गयी और वह सड़क के किनारे एक बेंच के नीचे खिन्न मन होकर लेट रहा। उसके घुटने और कोहनियों में खरोंच आ गयी। वह सोचने लगा कितना सभ्य और शीलवान् था लिलीपुट का कवि।

रात हो गयी थी। गुलिवर जाड़े के मारे ठिठुर रहा था। करवटें बदलता हुआ अपने भाग्य को कोस रहा था कि इतने में उसे लगा कि धरती काँप उठी हो। किसी ने अपनी विराट् उँगलियों से फाँसकर उसे ऊपर उठा लिया। गुलिवर ने प्राण की आशा छोड़ दी। उसने देखा। कवि था।

"डरो मत।" कवि ने कहा—"तुम इतनी दूर से आये और बिना कुछ खाये-पिये चले आये। अपमान करते हो मेरा। चलो!' और गुलिवर को अपनी हथेली पर आराम से बिठाकर वापस ले आया। किसी तरह वह झुककर अस्तबल में पहुँचा और सिकुड़कर बैठ गया। कुछ घास सुलगाकर उसने बग़ल में एक चाय की केटली चढ़ा रखी थी, उसमें से चाय सिझाने लगा।

गुलिवर ने अपने चारों ओर निगाह डाली। बहुत ही गन्दा अस्तबल था। कहते हैं पहले उसमें राजा के घोड़े रहा करते थे। उनके लिए अब एक नये अमरीकन स्टाइल का अस्तबल बन गया है। यह बहुत दिनों से खाली पड़ा था और कवि को जब कहीं ठिकाना नहीं मिला तो वह इसमें रहने लगा। इस गन्दे अस्तबल में कवि तनकर तो खड़ा हो ही नहीं सकता था उसके पाँव भी कैसे फैल पाते होंगे यह गुलिवर की समझ में नहीं आता था। लेकिन इसी अस्तबल का कवि ऐसे गीत लिखता था जिसके स्वर-स्वर में लपटें धधकती हों और ऐसे गीत लिखता था जिसके बोल-बोल में अमृत

छलक पड़ता हो। कवि की कल्पना कैसे पंख पसारकर उड़ जाती थी, यह आश्चर्य की बात थी। और इससे भी आश्चर्य की बात तो यह थी कि ग़ोताखोरों के इस दरिद्र मोहल्ले और अस्तबल की इस गन्दगी से कवि कहाँ से यह रस खींच लेता है ? गुलिवर को लिलीपुट के राजकवि का वह कक्ष याद आया जहाँ रेशमी परदे लहराते थे—धूपछाँह की आँखमिचौनी होती थी। कहाँ वह सौन्दर्य-कक्ष कहाँ यह गन्दा अस्तबल ? फिर गुलिवर को याद आया कि ऐसे ही गन्दे अस्तबल में ईसामसीह भी पैदा हुए थे।

इतने में कवि ने कहा—"पीते क्यों नहीं चाय ?" गुलिवर ने देखा उसके सामने एक गिलास में चाय रखी हुई थी और वह गिलास बालटी से भी बड़ा था। गुलिवर के प्राण सूख गये। "लेकिन इतना ?" उसने डरते हुए पूछा। "थोड़ा-थोड़ा करके पी लो।" कवि ने बहुत स्नेह से कहा। गुलिवरजी पशोपेश में पड़ गये। "तुम्हें पीने में दिक़्क़त होगी। लाओ मैं पिला दूँ।" और कवि ने जलती हुई चाय चुल्लू में ली और उसे पिलाने लगा। गुलिवर चीखा—"हाथ जल जायेगा।" कवि हँसा और बोला—"यह हाथ जलने का आदी हो गया है। इससे भी ज़्यादा जलती हुई चीज़ मैं इन हथेलियों पर रोप चुका हूँ।"

गुलिवर चाय चखते ही घबरा गया। कड़वी चाय ! एक दाना शक्कर का नहीं। कवि ने उसका मुँह देखते ही कहा—"शक्कर उसमें नहीं है। पिछले साल-भर से ऐसी ही चाय पीने की आदत पड़ गयी है मेरी। तुम अगर कल तक रुको तो दो-एक गीत बेचकर शक्कर खरीद लाऊँगा।"

आतिथ्य-सत्कार के बाद कवि के मुख पर एक अजब-सा आत्म-सन्तोष झलक आया। उसने गुलिवर से कहा कुछ नहीं, पर बैठा-बैठा अपना एक गीत गुनगुनाता रहा। थोड़ी देर बाद उसने गुलिवर से पूछा—"सोओगे अब ? लेकिन बिस्तरा मेरे पास नहीं है। खैर तुम्हारे लिए तो इन्तज़ाम हो सकता है। उसने अपना कुरता उतारकर बिछा दिया। इतना बड़ा था वह कुरता कि बिछाने और ओढ़ने का पूरा इन्तज़ाम हो गया। कवि नंगे

बदन ही लेट रहा। गुलिवर ने कुछ बातें करनी चाहीं तो उसने डाँटकर कहा—"सो जाओ अब। कल बातें होंगी।"

गुलिवर ने करवट बदली। कवि भी वहीं लेट गया। हालाँकि उस पर्वताकार कवि के बग़ल में चूहे-जैसा गुलिवर मन ही मन काँप रहा था कि कवि ने करवट ली और गुलिवरजी की हड्डी-पसली का पता न चलेगा।

थोड़ी देर बाद पतिंगों के बराबर बड़े-बड़े खूँख़ार मच्छरों ने हमला किया। गुलिवर तो कुरते में लिपट गया लेकिन कवि के नंगे बदन पर मच्छर टूट पड़े। उनकी ख़ून चूसने की आवाज़ इतनी भयानक थी कि गुलिवर चौंककर जाग गया। गुलिवर के उठने की आहट से कवि भी जाग गया। उसने बदन पर हाथ फेरा। जहाँ मच्छरों ने काटा था वह मांस फोड़ों की तरह फूल आया था। उसने गुलिवर से कहा—"मैं बाहर सो रहूँगा। ऐसे तेरी नींद में बाधा पड़ेगी।" गुलिवर को बड़ी आत्मग्लानि हुई। कहाँ इन परिस्थितियों में आकर वह कवि के सिर पर भार बन गया। उसने बहुत विनय की और कवि से कहा—"यह रात जागते-जागते काटी जाये।" अन्त में दोनों उठकर बैठ गये।

गुलिवर उसे लिलीपुट के कवि के बारे में बताने लगा। ब्राडबिगनैग का कवि सहसा उल्लास से भर गया—"कैसे है लिलीपुट का कवि अब? तुम जानते हो वह बहुत प्रतिभाशाली है। संसार में एक ही कवि है जिसे मैं प्यार करता हूँ वह है लिलीपुट का कवि।"

"हाँ, वह भी आपका ज़िक्र करता था।"

"क्या कह रहा था?" कवि ने बड़ी व्यग्रता से पूछा—"जानते हो जिस वक़्त सभी लोग ब्राडबिगनैग और लिलीपुट भाषा का विरोध कर रहे थे उस समय मैंने उसका और उसने मेरा साथ दिया था। लेकिन अब वह राजपथ पर है, स्वर्ण पथ पर है; मैं जन-पथ पर हूँ, मूल पथ पर हूँ, लेकिन वह मुझे प्यार करता है....।"

"लेकिन वह तो आप के बारे में—"

"चुप रहो। तुम उसकी बातें नहीं समझ सकते।" कवि ने डांटकर कहा। पर थोड़ी देर बाद वह गम्भीर हो गया और संजीदा आवाज़ में बोला—"अब वह मुझसे नाराज़ है। मैं जानता हूँ वह मुझसे नाराज़ है। कभी-कभी विशाल और विराट् होना भी पाप है। बहुत-से लोग जिन्हें तुम प्यार करना चाहते हो, जिन्हें तुम अपने समीप लाना चाहते हो, वे तुम्हारी विराटता समझ नहीं पाते। तुमसे चिढ़ जाते हैं। और अपनी सीमित संकीर्णता की रक्षा करने में तुम्हारी विराटता को तो अस्वीकार करते ही हैं, तुम्हारे स्नेह को भी अस्वीकार करने लगते हैं।" और फिर वह बहुत उदास हो गया। गुलिवर की समझ में कुछ न आया पर वह कुछ बोला नहीं। कवि कहता गया—"और सच बात है जबतक तुम्हारे साथी विराट् न हों, तुम्हारा वातावरण विराट् न हो, तुम्हारा स्नेह विराट् न हो, तबतक विराट् की कल्पना ही कठिन है। तुम्हें ग्रहण करनेवाली समाज-व्यवस्था ऐसी है कि जिसने इसको समर्पण किया वह लिलीपुट का बौना हो जाता है। 'अपमानव बनकर रह जाता है। और जिसने भी उसका निषेध किया, उसके विरुद्ध विद्रोह किया वह विद्रोह में अकेला पड़ जाता है। उसे अतिमानव बनना पड़ता है। एक स्वस्थ सन्तुलन हो ही नहीं पाता क्योंकि समाज-व्यवस्था में सन्तुलन है ही नहीं।" कवि सहसा उठकर टहलने लगा यद्यपि अस्तबल की छत नीची थी और उसे झुककर चलना पड़ता था। गुलिवर की ओर देखकर बोला—"कितना छोटा कमरा है! लगता है; इसे मैं ओढ़े हुए हूँ। लेकिन टहलने की मेरी आदत है। अच्छी आदत नहीं। जानता हूँ यह ग्रामीणता है, अशिष्टता है। मैं जानता हूँ मैंने विद्रोह न किया होता, समर्पण कर देता तो मुझमें एक पॉलिश आ जाती। लेकिन ऐसा आदमी आत्म-कायर और निर्वीर्य हो जाता है। वह मन ही मन सबसे डरने लगता है। दूसरी ओर जो विद्रोह करता है उसकी आत्मा निर्भीक हो जाती है। वह तूफ़ानों को सीने पर झेल सकता है। पहाड़ों को उखाड़ फेंकता है, ज्वालाओं को पी जाता है।

लेकिन उसे अकेले चलना पड़ता है बिलकुल अकेले। धीरे-धीरे अकेलापन उसकी रग-रग में बस जाता है। वह अपने से अपनी भाषा में बातें करना सीख लेता है। सामाजिक जीवन से उसका सम्बन्ध टूट जाता है, जैसे मैं। सहज सरल मानवीय जगत् से मेरा सम्बन्ध टूट-सा गया है। उससे क्या मुझे कम कष्ट है ? और इससे भी बढ़कर कष्ट मुझे तब होता है जब मैं देखता हूँ कि लिलीपुट के कवि की अनोखी प्रतिभा कितनी ग़लत दिशा में मुड़ गयो। हिरण्यमय पात्र के नीचे ढँका हुआ उसकी आत्मा का सत्य कितनी वेदना से छटपटा रहा है। वह वाणी का अलबेला पुत्र था। मेरी आत्मा एकान्त में रोती है।" फिर कवि की भृकुटियाँ तन गयीं और वह बाहर के अन्धकार में देखने लगा। "लेकिन कोई बात नहीं। मैं भविष्य में देख रहा हूँ वह दिन आ रहा है जब यह विषमता, यह असन्तुलन समाप्त होगा। जब आदमी की आत्मा कुण्ठित न होगी सहज सरल मानवीय स्तर पर उसका विकास होगा। वह दिन मैं नहीं देख पाऊँगा। लेकिन मुझे सन्तोष है कि मेरी हड्डियाँ उस आनेवाली दुनिया की नींव बनेंगी। मेरी हड्डियाँ।" सहसा किसी अदृश्य की ओर हाथ फैलाकर अट्टहास किया—"दधीचि अपनी हड्डियाँ देकर मर गया। वह देवासुर संग्राम का परिणाम देखने के लिए जीवित नहीं बचा। लेकिन उसी की अस्थियों के वज्र ने ही इन्द्र को विजय दिलवायी। काफ़ी है। मेरे लिए इतना काफ़ी है।" और कवि घुटनों में सिर झुकाकर बैठ गया। थोड़ी देर बाद भरे गले से चौंककर बोला—"तुमने आँखें देखी हैं ?"

"कैसी आँख ?"

"जिन आँखों से मैंने पहली बार उस भविष्य का सपना देखा था। देखोगे ?" और उसने अपने गन्दे तकिये के नीचे से एक मुड़ा-मुड़ाया चित्र निकाला। वह एक तरुणी का चित्र था। कितनी करुण थीं उसकी बड़ी-बड़ी आँखें। गुलिवर को याद आया लिलीपुट के कवि की प्रेमिका उससे कुछ छोटी ही थी। "यह आपकी प्रेमिका का चित्र है ?"

"प्रेमिका ?" कवि ने रुँधे गले से जवाब दिया। "यह मेरी बेटी का

चित्र है। यह विना दवा और पथ्य के मर गयी थी।" कवि ने अपनी मैली धोती के छोर से बूढ़ी पलकों में छलक आनेवाला आँसू पोंछ लिया और सूनी-सूनी निगाहों से बाहर अन्धकार में जाने क्या देखने लगा।

थोड़ी देर वाद सहसा वह चौंका। "सुन रहे हो, यह शोर सुना तुमने ?"

गुलिवर ने चौंककर उसकी ओर देखा—"उठो भागो, जल्दी जाओ। तुम्हारी दुनिया में एक भयानक संघर्ष शुरू हो गया है। उनका नारा है कि वे असन्तुलन मिटाकर छोड़ेंगे। धरती ख़ून की क़ै कर रही है और नदियाँ और समुन्दर में आग उड़ेल रही हैं। जाओ जल्दी करो। आग तुम्हारे नगर तक पहुँच गयी है।"

गुलिवर चौंककर उठ खड़ा हुआ। इतनी दृढ़ता थी उसकी वाणी में कि जैसे सचमुच अन्धकार में कुछ देख रहा है। भागा-भागा समुद्र तट पर आया। जहाज़ खोला।

थोड़ी देर वाद ब्राडबिगनैग का कवि बहुत-से फल-फूल लेकर आया और रास्ते के लिए उसके जहाज़ पर रखकर बोला—"जाओ उनसे कहना कि इस वार ऐसी दुनिया क़ायम करें कि उसमें न किसी को अपमानव बनना पड़े और न अतिमानव। जहाँ सभी इस प्रेत-योनि से छुटकारा पा सकें। और रास्ते में लिलीपुट के कवि से मेरा स्नेह-अभिवादन कहना और वताना कि अब नयी दुनिया क़ायम होगी जहाँ उसकी प्रतिभा और आत्मा पर ढँका हुआ हिरण्यपात्र भी उठ जायेगा। उसकी मुक्ति का दिन भी आ गया है।"

गुलिवर चल पड़ा। इस वार उसने जब ब्राडबिगनैग के कवि को प्रणाम किया तब उसे ज्ञात हुआ कि श्रद्धा किसे कहते हैं।

उसे जल्दी थी। वह लिलीपुट न रुककर सीधे घर आया। यहाँ पहुँचकर उसने देखा कि कुछ रक्तपात हुआ जरूर था, पर अब शान्ति है, उपद्रवी नज़रबन्द हैं। सम्राट् के अधिकार सीमित हो गये हैं। अपने देश

में अपना राज है। सामान पर पड़ोसियों ने क़ब्ज़ा कर लिया है और मकान राशनिंग अफ़सर ने किसी दूसरे के नाम एलाट कर दिया है।

इससे भाई गुलिवरजी के भावुक हृदय को इतना आघात पहुँचा कि वे एकाएक प्रकाशक हो गये और टेक्स्ट बुक छापने लगे।

इस तरह बहादुर जहाज़ी गुलिवर की तीसरी यात्रा समाप्त हुई।

□ □

शारदाप्रसाद श्रीवास्तव 'भुशुण्डि'

चिमिरखी ने कहा था[1]

□

प्राइमरी मदरसों के मुदर्रिसों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गयी है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसरों, लड़कों तथा लड़कियों की बोली का मरहम लगावें। जब छोटे-छोटे स्कूलों में पढ़नेवाले छात्र, आपस में गाली-गलौज करते, या एक-दूसरे के साथ साला-बहनोई का रिश्ता जोड़ते हुए नज़र आते हैं, तब यहाँ के शिक्षितस्त्रीलिंग तथा पुंलिंग वर्ग 'आइए बहनजी, कहिए कुमारीजी, सुनिए भाईजी इत्यादि' मधुवेष्टित शब्द बोलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। क्या मज़ाल जो बिना 'आप' और 'जी' के एक भी लफ़्ज़ मुँह से निकल जाये। उनका शुद्ध शिष्टाचार ऐसा सरस, सरल आडम्बरहीन होता है, जैसे छिलका उतारा हुआ केला। उस पर 'प्लीज़ और थैंक् यू' तो सुन्दरता बढ़ाने में बिजली की लाइट का काम करते हैं।

ऐसे विमल वातावरण में पले हुए दो सजीव चलचित्र 'एक सखी दूसरा सखा' दैववशात् साइकिल से टकराकर हज़रतगंज के चौराहे पर गिर पड़े। एक ने साड़ी सँभालते हुए कहा—"प्लीज़ इक्सक्यूज़ मी" और दूसरा पैण्ट की क्रीज़ ठीक करते हुए बोला—'आइ एम सॉरी'। फिर एक क्षण-भर दोनों चुप रहे। लेकिन अन्त में एक ने पूछा :

"आप कहाँ पढ़ती है ?"

"आई. टी. कॉलेज में और आप ?"

"यूनिवर्सिटी में। आप यहाँ कहाँ रहती हैं ?"

---

१. 'उसने कहा था' नामक प्रख्यात कथा की पैरोडी।

"सिविल लाइन में, अंकिल के साथ।"

"मैं भी मुकारिमनगर में मामा के यहाँ रहता हूँ। इस बार हिन्दी में एम. ए. करने का विचार है।"

लड़की ने साइकिल के हैण्डिल को मोड़ते हुए कहा—"मुझको भी हिन्दी से अधिक प्रेम है। मैंने भी बी. ए. में हिन्दी ही ले रखी है।"

कुछ दूर चलकर लड़के ने पूछा—"आप कविता भी करती हैं ?"

"आप से मतलब ?" कहकर लड़की आगे निकल गयी और लड़का मुँह ताकता रह गया।

इसके पश्चात् कभी छठे-छमासे वे सिनेमा-हाउस या अमीनाबाद में घूमते हुए मिल जाते। लड़का मनोरंजन के लिए छेड़ देता—"आप कविता भी करती हैं ?" और उत्तर में वह कहती 'आप से मतलब ?'

एक दिन जब लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए उससे छेड़-खानी की तब लड़की लड़के की भावना के विरुद्ध बोली—"हाँ, करती तो हूँ। देखते नहीं, इस मास की 'माधुरी' में मेरी एक कविता प्रकाशित हुई है।"

लड़की चली गयी। लड़का भी अपने घर की ओर रवाना हुआ। रास्ते में वह अनेक कवियों की कविताओं को उलट-फेरकर नवीन रचना तैयार करने में निमग्न हो गया। यहाँ तक कि वह अपने घर से दस-बीस क़दम आगे बढ़ गया और उसे कुछ भी न ज्ञात हुआ। सहसा जब वह एक अन्धे से टकराया तब उसको होश हुआ कि वह घर से आगे निकल आया है।

"राम-राम ! यह भी कोई कवि-सम्मेलन है। एक पहर बीत गया मिठाई और नमकीन की तो कौन कहे, किसी ने एक बूँद पानी तक की खबर न ली। भूख के मारे आँख निकली आती है, पेट घुसा जाता है। हमने गवाहियाँ भी दी हैं। मगर ऐसी लापरवाही कहीं नहीं देखी। बेईमान न जाने किस इन्तज़ाम में फँसे हैं कि इधर आने का नाम तक नहीं लेते। इन्होंने तो कान्यकुब्जों की बारात के भी कान काट लिये।"

कवि खंजन बोले—"आप लोग इतना घबराते क्यों हैं ? अभी तो दो ही तीन घण्टे बीते हैं। जहाँ इतना सहा, वहाँ थोड़ा और सही। घण्टे आध घण्टे में भोजन आने ही वाला है। फिर तो पौ बारह हैं। नमकीन खाना और खुशी के गीत गाना। मैंने सुना है, कुमारी निबौरीजी स्वयं दाना-पानी अपने साथ ला रही हैं। बेचारी बड़ी शरीफ़ हैं। कहती हैं कवि हमारे देश की नाक हैं। राष्ट्र के उत्थान-पतन का भार इनकी पीठ पर इतना अधिक लदा हुआ है कि बेचारे खच्चर से भी गये बीते हैं।"

'चार दिन बीत गये। पलक नहीं मारी। कवि-सम्मेलनों में जागते ही बीता है और अब भी दावा है कि ऐसे कवि-सम्मेलनों को तो मैं चुटकी बजाते अकेले ही चला सकता हूँ। यदि चलाकर न दिखा दूँ तो मुझको इसके मण्डप की ड्योढ़ी नसीब न हो। गुरु ! आज्ञा-भर की देर है। एक बार ऐसे ही एक कवि-सम्मेलन में कविता पाठ करने बैठा तो हद कर दी। मित्र, कुछ न पूछो, मैं टस से मस न हुआ और आँखें बन्द किये हुए लगातार कविता सुनाता रहा। किन्तु जब मैंने लोचन उन्मीलित किये तब देखा केवल टुटुरूँ टूँ सभापतिजी बैठे ऊँघ रहे थे।"

"इसके माने आप झोला-झण्डा लिये हुए कवि-सम्मेलनों की टोह में हमेशा चक्कर लगाया करते हैं ?' मुसकराते हुए बगुलेशजी ने पूछा।

"ऐसी बात नहीं। जैसे बिना फेरे पान सड़ जाता है, अश्व अड़ियल हो जाता है, वैसे ही बिना सम्मेलनों में आये-गये कवि भी अड़ियल हो जाता है, इसलिए कभी-कभी मैं ऐसा कर लेता हूँ, अन्यथा कीचड़ में कौन पैर डाले।"

बगुलेशजी बोले—"सच है।"

खंजनजी ने कहा—"पर क्या करें ? नस-नस में भूख समा गयी है। होंठ अलग सूख रहे हैं। कुमारीजी अभी तक अपनी पलटन लेकर नहीं पलटीं। इस समय यदि भिगोया हुआ चना ही मिल जाता तो ग़नीमत थी। जान में जान आ जाती, हाथ-पैर बोलने लगते।" मजीराजी, जो ज़रा ज़्यादा मसखरे थे, 'कवेण्डर' जलाते हुए बोले—"देखो, मैंने सम्मेलन

की कपालक्रिया कर दी, अब आप लोगों को मुसीबत का सामना नहीं करना पड़ेगा।" सब लोग हँस पड़े और वे चारों खाना चित्त चारपाई पर लेट गये।

खंजनजी ज़बान से होंठों को चाटते हुए बोले—"अपने-अपने सम्मेलनों की चाल है। इमरतीजी को लाख समझाया गया कि कवि लोग ग़म नहीं खाते, मगर वे बार-बार खाने के लिए इसरार करती थीं, मार्ग-व्यय कम देती हुई कहती जाती थीं कि आप लोग चोटी के वाल हैं। यदि आप लोगों की सेवा समुचित रूप से न की जायेगी तो भाषा-भामिनी का सौन्दर्य नष्ट हो जायेगा और आप लोग हमलोगों को सरस रचनाएँ न सुनायेंगे।"

एक घण्टा बीत गया। कमरे में सन्नाटा छाया हुआ है। हाँ, कभी-कभी ओझाजी की सरौती नीरवता को भंग कर देती है। बगुलेशजी क्षुधा के मारे तड़प रहे हैं, कहते हैं, "यदि पेशगी ले लिया होता, तो सीधे घर की राह लेता, फिर मुड़कर भी पण्डाल की ओर न देखता। अब तो चण्डूल की भाँति आ फँसा हूँ और मजबूर हूँ अपने संकोची स्वभाव पर।"

कवयित्रियाँ बेचारी पेण्ड की हुई फाइलों की भाँति लाचार थीं, किन्तु उनके बिगड़े दिल पतिदेव अवश्य पैजामे के बाहर हो रहे थे।

इस समय लकड़बग्घाजी चीखे, "भूख लगी है।"

"भूख लगी है।"

"हाँ, बड़ी जोर की लगी है।"

"अच्छा याद आयी। मेरे झोले में घर के बने हुए कुछ लड्डू रखे हैं, तबतक आप उन्हें खाकर पानी पियें, फिर देखा जायेगा।"

"सच कहते हो?"

"और नहीं क्या झूठ?" यह कहकर खंजनजी लड्डू निकालकर देने ही वाले थे कि कमरे के अन्दर वायु के साथ मिष्ठान्न की महक आयी और घ्राण इन्द्रिय द्वारा कवियों के उदर में समा गयी। बेचारों ने एकटक अँखियाँ खोल दीं। मानो मरीज़ को पेन्सिलीन का इन्जेक्शन लगा। एक महाशय ने झुककर मजीराजीकी ओर तश्तरी बढ़ाते हुए कहा—"श्रीमानुजी,

नमकीन....'' जैसे उन्होंने जम्हाते हुए उसको लेने के लिए अपना हाथ बढ़ाया, वैसे ही उनका हाथ तश्तरी में न पकड़कर देनेवाले की ठुड्डी में जा पड़ा। उसकी तीक्ष्ण खूँटियों का, उनकी कोमल अँगुलियों में चुभना था कि वे 'वर्र-वर्र' कहकर वर्रा उठे। उनकी इस ऐक्टिङ् से कमरे के अन्दर काफ़ी क़हक़हा मच गया और कवियों के मलिन मुख धान की खिली हुई खीलों के समान खिल उठे। इसके बाद सब लोग भूखे बंगाली की भाँति खाने में जुट गये। किन्तु जब उनका मुखारविन्द गंगोत्री और यमुनोत्री बन गया तब उन्हें ज्ञात हुआ कि तरकारी में लाल मिर्च अधिक थे।

भोजन समाप्त होने के बाद कविगण बे-पर की उड़ा रहे थे। कमरा स्टेशन का मुसाफ़िरख़ाना हो रहा था। इतने में आवाज़ आयी :

"बगुलेशजी !"

"कौन ? बमचकजी। आइए महाराज !" कह बगुलेशजी ने उनका स्वागत किया और वे छाया-पुरुष की भाँति अन्दर धँसते हुए बोले :

"अब पण्डाल चलने की कृपा करें !" स्थानीय कवि उपस्थित हो गये हैं। देर करने की आवश्यकता नहीं है। आप लोग अपना पेशवाज़ शीघ्र बदल लें।'

खंजनजी पल्ले नम्बर के घुटे थे। आँख मारते ही भाँप गये कि ये महाशय यहाँ पर हम लोगों को बनाने के लिए आये हैं। अतएव मुँह का भाव छिपाते हुए बोले—"आप तो बड़ी जल्दी चोला झाड़कर आ गये, मगर वह आनन्द यहाँ कहाँ, जो रायबरेली के कवि-सम्मेलन में था, जिसके संयोजक स्वयं तूफ़ानमेल थे। कितनी सुन्दर रचनाएँ थीं, हुदहुद की। वाह-वाह, आपने भी उन्हें खूब समझाया था कि सूरदास की चौपाइयों में टियर गैस का असर है, केशव की कुण्डलियाँ ऐटमबम का काम करती हैं, बिहारी वीर रस के रसिक थे। आपकी घनाक्षरी को सुनकर तो जाग्रत् श्रोताओं ने भी ऊँघना शुरू कर दिया था।"

बमचकजी खिदुराते हुए बोले—"हें-हें, यह सब आपका प्रोत्साहन

है। भला मैं तुच्छ जीव किस योग्य हूँ। वास्तव में तो कविता वही है, जिसको सुनकर भैंस भी पागुर करना छोड़ दे। यों तो सोहर और दादरा देहात की दीदियाँ भी गढ़ लेती हैं, मगर जब छटंकी के ऊपर पव्वा बैठाना पड़ता है तब चोटी का पसीना एड़ी तक आ जाता है। टकसाली चीज़ों का लिखना और ही बात है।"

मजीराजी ने सुरती को होंठ के नीचे दबाते हुए कहा—"बात तो सवा सोलह आने ठीक है। इस समय खंजनजी, पैदली मात खा गये।'

खंजनजी सिर खुजलाते हुए बोले—"मात, राम, राम! गुरुजी, यह आप क्या बक गये? एक गीतकार सैकड़ों घनाक्षरी लिखनेवालों के बराबर होता है। सम्प्रति हिन्दी-साहित्य की प्रखर धारा में, ऐसे गीतों का लिखना, जिनमें संचारी भाव के साथ-ही-साथ निराला, प्रसाद का समागम हो, एक टेढ़ी खीर है। कूपमण्डूक बनना दूसरी वस्तु है, किन्तु जब समय के साथ चलना पड़ता है तब आटे-दाल का भाव मालूम होने लगता है। आजकल गीत न लिखनेवाले कवियों का जीवन ट्यूबरहित फाउण्टेन पेन की तरह माना जाता है!"

बीच ही में बगुलेशजी नाक-भौं सिकोड़ते हुए बोले—'व्यर्थ बकवाद ही करते रहोगे या चलने की भी तैयारी करोगे?"

कवि-सम्मेलन बगुलेशजी के सभापतित्व में प्रारम्भ हुआ। मंच ग्रामोफ़ोन कविगण रेकॉर्ड थे। सभापतिजी दाद की चाभी देकर चला रहे थे। किन्तु जनता के हूटिंग के कारण स्थानीय कवियों की दाल न गल पाती थी। वे फटे दूध की भाँति जमने में असमर्थ थे। कवि-सम्मेलन क्या था, कवियों की कसौटी। ऐसे-वैसे कवि तो कविता पाठ करने का साहस ही न करते थे। रंग जमता हुआ न देखकर सभापतिजी ने कुछ बाहरी कवियों को बुलाना शुरू किया, लेकिन लाख हाथ-पैर मारने पर भी वे असफल रहे, कारण वही दाल और रोटी।

पिपीलिकाजी के द्वारा सँभाला हुआ सम्मेलन मुँह के बल गिरने ही वाला था कि लकड़बग्घाजी का नाम पुकारा गया। वे दहलते हुए दिल

के साथ मंच पर पधारे और बिना शीर्षक बतलाये हुए तावड़-तोड़ रचनाएँ सुनाने लगे। उनका स्वर टेढ़े पहिये के समान लहरा रहा था। उनके बैठने का पोज़ देखकर स्कूली लड़कों ने छींटे कसना आरम्भ कर दिया। और वे बेचारे लगे बग़लें झाँकने। उनको उखड़ता हुआ देखकर खंजनजी ने अपनी मधुवर्षिणी वाणी द्वारा जनता के समक्ष लकड़बग्घाजी की महत्ता पर प्रकाश डाला तथा शान्तिपूर्वक कविता पाठ सुनने के लिए सत्याग्रह किया। इस समय उनका व्याख्यान श्रोताओं की बदहज़मी को दूर करने के लिए सोडावाटर का काम कर गया। अब उनको, उनकी रचनाओं में कच्चे आम का स्वाद मिल रहा था। खंजनजी की दाद पाकर लकड़बग्घा-जी खूब जमे। सारा पण्डाल वाह-वाह की ध्वनि से गूँज उठा। किसी ने रजतपदक, किसी ने स्वर्णपदक देने की घोषणा की। यहाँ तक कि एक उत्साही साहित्यप्रेमी ने श्वेतपत्र-पदक प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर डाली। क्षण-भर के लिए सारा पण्डाल ढपोरशंख बन गया। 'सहस्रं ददामि लक्षं ददामि' की गूँज तो मामूली बात थी। खंजनजी उनकी सफलता पर फूले नहीं समाते थे। उनका रोम-रोम जनता की गुण-ग्राहकता की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहा था। उन्होंने गर्व से माँगा :

"मजीराजी, एक कुल्हड़ा चाय, लकड़बग्घाजी जम गये।"

इसके बाद खंजनजी की बारी आयी। वे एक होकर अनेक श्रोताओं के नेत्र में और अनेक श्रोतागण एक होकर उनकी आँख में थे, जैसे फिल्म फ़ोकस और चलचित्र। फ़रमाइशों की बौछारें होने लगीं। उन्होंने गीत पढ़ना प्रारम्भ किया। अटलाण्टिक ओशन प्रशान्त महासागर में परिणत हो गया। जनता मुग्ध हो गयी, किन्तु उसकी काव्य-पिपासा शैशव की बाढ़ की भाँति बढ़ रही थी। अधिक कविता पाठ करने से खंजनजी पूर्णतया थक गये थे। उनके गले में बर्स्ट हो गया था। वह चलता न था। अतएव जैसे ही वह मंच को छोड़कर जानेवाले थे, वैसे ही बग़ल में बैठे हुए दो मुस्टण्डों ने उनको बिठालते हुए कहा—"आपने माँगे थे एक सौ एक रुपये उन्हें हमने बड़े परिश्रम के साथ दीन क्लर्कों के मासूम बच्चों का

पेट काटकर भेजे हैं और अब उनको पेट-भर कविता सुनाकर ही आपको जाने देंगे।"

यह सुनकर उनके चेहरे का रंग फक हो गया, मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, बेचारे कर क्या सकते थे, पेशगी ले ही चुके थे। नाहीं की कोई गुंजाइश न थी। बाँसों उछलता हुआ दिल गरियार बैल की भाँति बैठ गया था।

इलेक्ट्रिक बल्ब अपनी रजत रश्मियों के द्वारा उनके मुख की मलिनता को ढक रहे थे।

उन्होंने फिर कविता सुनाना शुरू किया, किन्तु इस बार उनके स्वर में वह सरसता न थी, जिसको सुनकर जनता भेड़ बन गयी थी। खमीरा भुर्रा हो गया था। खंजनजी को इस समय अपनी कविता की एक-एक पंक्ति सहारा की मरुभूमि प्रतीत हो रही थी और वे विवश थे किराये के ऊँट की भाँति।

श्रोताओं में खिचड़ी पकने लगी। सम्मेलन उखड़ने लगा। कार्यकर्ताओं की प्रार्थना का मूल्य नष्ट हो चुका था। उकताया हुआ सम्पूर्ण श्रोता-समाज भर्र मारकर उठ बैठा और धन्यवाद की लादी लादे बिना ही, 'वियोग में संयोग का पुट देने के लिए' चल पड़ा। हाँ, कुछ मनचले युवकों ने अवश्य सभापतिजी की टिमटिमाती हुई रचनाएँ सुनीं और दाद दीं। सम्मेलन क़रीब दो बजे रात को समाप्त हुआ।

पण्डाल हड़ताली स्कूल की भाँति सूना हो गया था। परन्तु जहाँ-तहाँ वे कवि झोला लिये हुए टहलते नज़र आते थे जिनको मार्ग-व्यय मनीऑर्डर द्वारा नहीं भेजा गया था।

स्टेशन में भीड़ अधिक थी। टिकट का लाना नास्तिक को आस्तिक बनाना था। फिर भी खंजनजी हिम्मत करके आगे बढ़े और कठिन तपस्या के बाद खिड़की तक पहुँचे ही थे कि एक यात्री ने उनको बड़े ज़ोर का धक्का दिया, जिसके कारण बेचारे जहाँ से चले थे वहीं पर फिर पहुँच गये। (वह उनकी महत्ता से अनभिज्ञ था।) टिकट तो मिला नहीं,

मगर भीतरी चोट अधिक मिली। कर्तव्य के नाते उन्होंने उस समय उसका कुछ ख़याल न किया और पुनः साहस समेटकर भीड़ के अन्दर घुसे। इस बार ईश्वर ने उनकी सुन ली।

ट्रेन मुसाफ़िरों से खचाखच भरी थी। कहीं पर तिल रखने को जगह न थी। हर एक डिब्बे में फ़ौजियों से मोर्चा लेना पड़ रहा था। अन्त में उन्होंने लक्कड़बग्घाजी को सर्वेण्ट कम्पार्टमेण्ट में ही बैठाकर सन्तोष की साँस ली। गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चल दी। खंजनजी ने नमस्ते करते हुए कहा—"चिमिरखीजी से 'जयहिन्द' कहिएगा और कहिएगा कि मुझसे जो कुछ कहा था वह मैंने पूरा कर दिया।"

उधर ट्रेन बढ़ रही थी और इधर खंजनजी की पीड़ा।

खंजनजी स्टेशन से लौटकर डेरे में आये और चारपाई के ऊपर ढेर हो गये। अब उनमें उठने तक की शक्ति न थी। रह-रहकर चोट की पीड़ा साली की भाँति चुटकी काट रही थी। उन्होंने पुकारा :

"मजीराजी, सिगरेट पिलाइए।"

आधी रात बीत जाने के बाद नींद हलकी आती है। दिन-भर की चिन्ताएँ, मानव जिनमें अधिक लिप्त रहता है, एक-एक करके उसके सामने स्वप्न के रूप में परिणत होती जाती हैं और वह उन्हीं में वास्तविक सुख-दुख का अनुभव करने लगता है।

खंजनजी यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे हैं। मुकारिमनगर में रहते हैं। हज़रतगंज अमीनाबाद में उनको आई. टी. कॉलेज की छात्रा मिल जाती है। जब वे पूछते हैं कि आप कविता भी करती हैं तब 'आपसे मतलब' कहकर वह चली जाती है। एक दिन जब उन्होंने वैसे ही पूछा तब उसने जवाब दिया 'हाँ करती तो हूँ। देखते नहीं, इस मास की 'माधुरी' में मेरी एक कविता प्रकाशित हुई है।"

सुनते ही खंजनजी को द्वेष हुआ। क्यों हुआ? राम जाने।

छह वर्ष बीत गये। खंजनजी अब विश्वविद्यालय में हिन्दी लेक्चरर हैं। अच्छी कविता करने लगे हैं। दरवाज़े पर नाक रगड़नेवालों की कमी

नहीं रहती । कारण, वे दिग्गज कवियों में हैं । अब उन्हें उस छात्रा का ध्यान न रहा । समय की बलिहारी है उनके पास तार के ज़रिये मनी-ऑर्डर पहुँचा और थोड़े समय के पश्चात् लकड़बग्घाजी का पत्र । "मैं भी सम्मेलन चल रहा हूँ । जाते समय हमारे घर होते जाइएगा, साथ ही चलेंगे ।"

लकड़बग्घाजीका मकान रास्ते में पड़ता था । खंजनजी वहाँ पर उतर पड़े । जब चलने लगे, तब उन्होंने कहा—"श्रीमतीजी आपको पहचानती हैं, बुला रही हैं, जाइए मिल आइए ।"

खंजनजी भीतर गये । सोचते थे, श्रीमतीजी मुझको जानती हैं, कब से ? कवि-सम्मेलनों में तो कभी साथ गयीं नहीं ? आँगन में जाकर 'जयहिन्द' किया और नमस्ते सुनी । खंजनजी चुप ।

"मुझे पहचाना ?"

"नहीं !"

"क्या आप कविता भी करती हैं ? आपसे मतलब ?"

"देखते नहीं, इस मास की 'माधुरी' में मेरी एक कविता प्रकाशित हुई है ।"

भावों की टकराहट से स्मरण हो आया । करवट बदली । पसली का दर्द बढ़ा ।

"मजीराजी, सिगरेट पिलाइए ।"

स्वप्न चल रहा है । चिमिरखीजी कह रही हैं, "मैंने आपको आते ही पहचान लिया । एक काम कहती हूँ । मेरे तो भाग फूट गये, पति 'एम. ए. बी. एफ़्'[1] मिले । फिर भी भारतीय आदर्श के नाते वे मेरे सब कुछ हैं । ईश्वर ने धन दिया है, ज़मीन दी है । मगर हम अबलाओं को पुलिस-जैसा अधिकार क्यों न दिया, जिससे हम कवि-सम्मेलनों में हूटिंग करने-वालों को बिना वारण्ट जेल में ठूँस देतीं । मेरे चिरपरिचित, आपको याद

---

१. एम. ए. बी. एफ़्.—मैट्रिक अपीयर्ड बट फ़ेल्ड ।

है ? एक बार आपने हज़रतगंज के चौराहे पर मुझको गिरने से बचाया था। आज वैसे ही श्री पतिजी की लाज आपको बचानी है। बेचारे सम्मेलनों में हूटिंग से उखड़ जाते हैं। मेरी यही भिक्षा है। आपके आगे ऐनक उतारती हूँ।" इतना कहकर वे आँखों में 'प्रसाद के आँसू' लिये हुए रसोईघर में चली गयीं और खंजनजी लोचनों में 'झरना' लिये हुए बाहर चले आये।

"मजीराजी, सिगरेट पिलाइए। चिमिरखी ने कहा था।"

खंजनजी चारपाई पर करवटें बदल रहे हैं। पास ही मजीराजी बैठे हैं। जब माँगते हैं, सिगरेट पिला देते हैं, कुछ देर खंजनजी चुप रहे। बाद में बोले—"इस बार जो कविता का संकलन प्रेस में जा रहा है, उसकी एक प्रति, मैं अवश्य आपको भेंट करूँगा। भइया, मुझको घर तक और पहुँचा देना।"

पुस्तक का नाम सुनकर मजीराजी की लार टप-टप टपकने लगी।

दूसरे दिन समाचार-पत्रों में लोगों ने पढ़ा :

बेलीगारद् विराट् सम्मेलन में गला बर्स्ट हो जाने से, असफल हुए, प्रथम श्रेणी के महाकवि खंजन।

□ □

मदन वात्स्यायन

ग्रीष्म-वर्णन

□

मंगलाचरण—अष्टयाम के कीर्तनों पर छायी हुई, ब्याह-शादी-जनेऊ आदि यज्ञों में समायी हुई, 'श्रीगणेशाय नमः' की जगह 'श्री अमुकदेव्यै नमः' के सम्मान के लिए उकतायी हुई, मीरा जिनकी धूल नहीं छू पाती और विद्यापति मीलों पीछे हैं, जिनका नाम लेने मात्र से दीन से दीन जनमानस तर [हो] जाता है, जिनके चित्रों के दर्शन से शयनालय में सुबह और भोजनालय में शाम होती है; टूथ-पेस्ट से लेकर जूते तक सारे वैभवों से वैभव जिनके कृपा-कटाक्षों पर ही क़ायम हैं; जिस ऋतु में वसन्त उजड़ जाता है, कामदेव उखड़ जाता है, और 'स्वकीया', 'परकीया' और 'गणिका' बिसर जाती हैं, उस ग्रीष्म के प्रताप का भी अतिक्रमण कर जो देवी सूफ़ियों के माशूक़-सी सर्वत्र छहरा रही है, 'तारिका' नाम्नी उन मन-नेत्री अभिनेत्री का मैं अभिनन्दन करता हूँ।

अनावश्यक भाषण—न ही मैं यूरोप आदि ठण्डे देशों की सुकुमारी 'मे' का ज़िक्र कर रहा हूँ, न ही शिमला, दार्जिलिंग और उटी के स्त्रैण 'समर' का। न ही चैता की रुझान मेरा सहारा है, न ही मैं 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' की सीमा लाँघना चाहता हूँ। दिशाओं के ताप और हवा की भाप, के उस स्मर-वर्द्धक संयोग का संयोग भी मेरा संयोग नहीं जिसको लक्ष्य कर, एक ओर समुद्र के पड़ोसी कलकत्ते में रवीन्द्रनाथ वसन्त का आवाहन करते हुए गाते हैं 'एशो हे वइशाख !' और दूसरी ओर विलायत के बाइरनका मत है कि—

What gods call love, and men adultery,
Is more common when the weather's sultery.

मैं यह defensive रोना राग भी गाने नहीं जा रहा हूँ कि यदि ग्रीष्म की कुरूपता न हो तो वसन्त की याद कौन करे, मैत्री-जैसी चरम-मधुर वस्तु की उपमा लोग यों क्यों दें कि 'मैत्री की शीतल छाया'! और यह भी मेरा प्लैन नहीं कि एप्स्टाइन और पिकैसो गोत्रीय आधुनिक कलाकारों की करामातों की तरह, प्राणहर गरमी और प्राणधर सूर्य-रश्मि गरम मुल्कों में सभ्यता का प्रथम विकास और विभिन्न देशों के सूर्य-वंशों के ज्वलन्त इतिहास, may day और बुद्ध-जयन्ती, दीपक राग और फ़ुटबाल सीज़न, पर शब्दों का एक एक्स्ट्रैक्ट ओर ग्रोटैस्क अनगढ़ लोंदा खड़ा कर दूँ और जब दूसरे दूसने लगें तो एक फ़तवा दे डालूँ कि 'Let there be Poetry' (तुलनीय Epstein; Let there be Sculpture) और in any case, मैं आपको भाषण का वह विशुद्ध रूप तो दिखलाने ही नहीं जा रहा हूँ जिसमें दो घण्टों तक सिर्फ़ यही कहा जाये कि मैं अब आपका और वक़्त नहीं लूँगा, लीजिए, यह चुप हुआ, यह हुआ, यह हुआ, और हुआ! हुआ! हुआ!

ग्रीष्म-वर्णन—जेठ के मध्याह्न का सूर्य तप रहा है। अमराइयों में आम, बग़ीचों में लीचियाँ, वनों में जामुन, घरों में लोग-बाग—जो जहाँ है वहीं तन्दूर की रोटी की तरह पक रहा है। सड़कें सुनसान हैं, बग़ीचे बियाबान हैं, बस्ती को आक्रान्त कर सरदार ग्रीष्म ने मार्शल-ला लगा रखा है। तलवार की धार की तरह सड़कें लम्बी, उजली और चलने के लिए कठिन हैं। धूल से तपे पेड़-पौधे अधवैस की खिचड़ी दाढ़ी-मूँछ-से लगते हैं। लँगोटी की तरह नदी क्षीण अपर्याप्त है, अस्त-व्यस्त सिर के केशों में पसीने की गरम धारा-सी सूखे झरबेरी के बीच उचाट मन से सँसर रही है। कारखाने की चिमनी से निकलकर तप्त धूल-धुआँ सफ़ेद खुली पगड़ी-सा आसमान में उड़ रहा है। जिसकी पूँछ में बच्चों ने छोटा डण्डा बाँध दिया हो उस कुत्ते की तरह कभी हवा सड़क की धूल पर चक्कर काटती है, भेंड़े की तरह कभी पैड़ों से रह-रह-कर टक्कर लेती है, होली पियक्कड़ों की तरह कभी घरों और बरामदों

पर कूड़ा और मिट्टी डालती है—लगता है, बारह बज गये और ग्रीष्म का होशहवास दुरुस्त न रहा।

"पानीवाली नदियाँ तो अलग,
उनकी नक़ल में बेपानीवाली पगडण्डियाँ भी बिला गयी हैं।
जो बेमोल छितरायी रहती थीं
वे छायाएँ भी छिप-सिमट गयी हैं।
पत्ते झड़ने से पेड़ मर-से गये हैं,
विंडोइआ में धूल के खम्भे उनके भूत-जैसे इधर-उधर हाहाकार करते दौड़ते हैं।"

—उफ़, क्या कैपिटलिस्ट शिद्दत की गरमी है इस सरकारी शहर में।

सूर्य ढलने भी लगा पर बढ़ती उम्र में वासना की तरह त्रास कम न हुआ। दिशाएँ सोशलिज्म के मांस से रहित दफ़्तर शाही कण्ट्रोल के कंकाल-सी धूसर श्वेत चमक रही हैं, निकलना तो दूर, बाहर आँख नहीं दी जाती। इण्डाइरेक्ट टैक्स-जैसी प्यासी हवा 'हू-हू' करती प्रकृति के वीरान खण्डहरों में चक्कर काट रही है। दिशाएँ ऊपर से जितनी चमक रही हैं, अन्दर से उतनी ही सन्तप्त हैं, मानो वे साधारण औकात के वह इण्डिपेण्डेण्ट एम. एल. ए. हों जो किसी तरह खर्चीले चुनाव के पार लगकर अब प्रेस रिपोर्टरों के सामने दिशा (विशेष) विहीन हँस रहे हैं।

'अकरम मरे न छुतहर फूटे....' के एजेण्ट की तरह गरमी का दिन टारे नहीं टरता, भाषण की तरह खत्म ही नहीं होता, चन्दा माँगनेवालों की तरह हटता ही नहीं, अपनी बहादुरी बयान करनेवालों की तरह पिण्ड ही नहीं छोड़ता! हनुमान् की पूँछ की तरह दिशाओं की खाक करके छोड़ेगा, विरह-निशा-सा काटे न कटेगा, आलोचना-सा काट खायेगा।

महीने की पहली तारीख को दूधवाले, अखबारवाले, कपड़ेवाले, राशन की दूकानवाले, बिजलीवाले, यह वाले, वह वाले की तरह गरमी में वेला ढलते आँधी आती है। बिल के काग़ज़ों-जैसे कूड़ा और सूखे पत्तों को घरों में छोड़ती दिन की गरमी उसी तरह मिटा जाती है जैसे बिलवाले तलब के

पैसों की गरमी को। मगर धूल, कूड़ा और सूखे पत्तों से भरी होकर भी गरमी की रंगीन शाम उतनी ही प्रिय लगती है जितनी तलब के बाक़ी पैसों से ख़रीदी गयी नयी साड़ी में नये बिल लिये श्रीमतीजी। मृग की कस्तूरी की तरह अपने तलब की बात ही सुनी जाती है, कुछ अपने हाथ नहीं लगता।

आँधी के भीषण उत्थान और पन्द्रह-बीस मिनटों के अन्दर ही सर्वथा शमन पर मेरे मित्र की 'गरम-नरम' चिट्ठी का क़िस्सा याद आता है। मेरे मित्र के मकान का किरायेदार न मकान छोड़ता था न नियम से किराया देता था। मामला आख़िरी तौर से तै करने के लिए उन्होंने उसे एक 'गरम-नरम' चिट्ठी लिखी। 'गरम' इसलिए कि वह ऐसा न समझ ले कि वे कुछ कर ही नहीं सकते। और 'नरम' इसलिए कि कहीं बिगड़कर वह किराया देना एकदम ही बन्द न कर दे। चिट्ठी यों थी—

ओरे ओ श्शाला !

श्शाला, तुम्हारा पाश में चार महीना का रुपिआ बाकी हाय। हाम फाइनल में बोलता हाय, श्शाला, तुम पूरा रुपिआ चार दिन का अन्दर में आके जामा कोरो। जोदी तुम श्शाला आभी तुरत रुपिआ नाहीं देगा— तो हाम, हाम, हाम, क्या कोरेगा, भूखा मोरेगा, कूछ तो शोचिए !

—श्रीचरणेषु।

बिजली-फ़ैन औ बर्फ़ का पानी, खसकी टट्टी और एयरकण्डिशनिंग, हिल स्टेशन और समुद्र-तट के ज़िक्र मुझे नहीं करने। निर्गुण की लगन की तरह ग्रीष्म का लोप कर ग्रीष्म का वर्णन असंगत है। यह नहीं कि मैं माया-वादी, छायावादी या आयावादी[1] हूँ और मुझे man-made pleasure से वितृष्णा है। प्रिय बोलनेवाली स्त्री के कण्ठ-स्वर-सी मधुर कोयल की कूक नहीं होती, और आदमी की सिद्धियाँ प्रकृति के सबसे नायाब फूल हैं।

"जिय बिनु देह, सभा बिनु मुरुखा।
तैसेहि मित्र, प्रकृति बिनु पुरुखा॥"

---

१. प्रकृतिरूपी आया के हाथ अपने को निश्चेष्ट छोड़नेवाला।

मगर प्रकृति को तलाक़ देकर made-to-order आनन्द में unadulterated martialism भले हो, sense of adventure नहीं होता, और यह न हो तो अगतिशीलता आती है, प्रगतिशीलता नहीं—समाज में, साहित्य में।

ग्रीष्म के लुत्फ़ों का वर्णन करने में सबसे वड़ी दिक़्क़त यह है कि ऐसी चीज़ें वहुत कम हैं जो ग्रीष्म की सिर्फ़ अपनी हों। कोयल वसन्त में आती है, जूही जाड़े में जाती है। ढूँढ़ने पर तीन चीज़ें मिलीं पर मुश्किल दूर न हुई।

यदि मैं releaf के, उत्तप्त दिन के बाद शाम, बन्द हवा में कछमछाहट के बाद बयार, पसीना-स्नान के बाद नदी-स्नान, तवे घर से तर पार्क, सूखे कण्ठ में तरबूजे की तरल मिठास के विशेष आनन्द के लिए उपमा, अँगरेज़ी से आज़ादी, बीवी-बच्चों से आज़ादी, छन्द और लय से आज़ादी, 'आगे नाथ न पीछे पगहा' की आज़ादी आदि से लेना चाहूँ तो अति वादी होने के कारण वह सबको समान रुचिकर न भी होगी! अति सर्वत्र वर्जयेत्।

खुली हुई चाँदनी का ज़िक्र करता हुआ अगर मैं उसे प्रौढ़ा स्वकीया कहूँ, तो अपनी 'पतनी कवि जी की याद कर मेरे कुछ कवि पाठक यों विवर्ण हो उठे कि जैसे आइसक्रीम खाते वक़्त दाँतों तले 'कच्' से कोई कीड़ा पड़ गया हो।'

और कहीं यदि मैं ग्रीष्म की परम खास-ता और चरम आनन्द पर यह कविता कहूँ, कि

"लौट चुके थे धोबी धोबिन लाल अभी तक पर चन्दा था,
कर पूरा निज काम खुशी से शान्ति सहित चर रहा गधा था
भेद शान्ति सन्ध्या की सहसा थिरक-थिरक खट-खट घनघोर,
हेंकों-हेंकों छेड़ उठा वह शीश उठा अनन्त की ओर
गोरज का अन्तिम रजकण था अभी तलक नभ में छाया
देख चाँदनी पा सन्नाटा हृदय गान से-भर आया

ताक अवज्ञा से जग पर मस्ती से गदहा रेंक उठा
पर अभाग्यवश धोबी गुस्से से दो मुँगड़े सेंक उठा
फिर गाऊँगा पेट भरा है
कर डाला मैदान सफ़ाया
कितना है यह चन्दा सुन्दर
जैसे मेरा ही मुँह पाया
हेंकों-हेंकों-हेंकों !
रेंकों, रेंकों, रेंकों"[1]

तो कुछ पुरातनवादी समालोचक कविता देवी की आसन्न मृत्यु की सम्भावना पर एक बार और उसी तरह व्याकुल हो उठे जिस तरह महीनों से बीमार बूढ़ी माँ के एक और (सन्निपात) delirium पर भक्त बेटा होता है !

कामदेव की तीरन्दाज़ी से बची हुई यह ऋतु व्याह-शादी की परम ऋतु है शायद इसलिए कि हमारा सनातन आदर्श है कि विवाह सिर्फ़ वंशवृद्धि के लिए होता है—बिना सेक्स के !

डॉक्टर कृष्ण शुक्ल अपना बनाया गुलाबजल बोतलों से जब सब लोगों पर ढार चुके तो हमारी मजलिस स्थानीय कलाकारों के संगीत की ओर मुख़ातिब हुई । 'गुलाबजल' में गुलाब की बू का तो मुझे पता न चला पर बोतलें रेफ्रिजरेटर से निकाली गयी थीं सो गरदन से जाँघों तक उन सब जगहों पर तरावट मालूम हुई जहाँ-जहाँ कपड़े भीगकर देह से चिपक गये, और हम लोगों ने 'यंग इण्डियन टेकनीशियन' का हौसला बढ़ाने के लिए उस स्थानीय गुलाबजल की यथाशक्ति दाद दी ।

मजलिस में तीन ख़ास व्यक्ति थे—एल. सी. (लिटरेट कॉन्स्टेबिल) से बढ़ते-बढ़ते साहब बने एस. पी. (सुपरिण्टेण्डेण्ट) साहब, स्थानीय प्रगतिशील पार्टी के नेताजी, और उस शाम के मुख्य गायक कारख़ाने के

---

१. मृत किशोर कवि मदन, माघ, १६४४ ।

एक मशीन-ऑपरेटर। 'सोशलिस्ट पैटर्न ऑव सोसाइटी' में सरकारी अफ़सरों और प्रगतिशील नेताओं को 'कल्चर' में 'इण्टरेस्ट' लेना अपेक्षित है, इसलिए सरकार और अपनी पार्टी की हिदायतों के मुताबिक़ एस. पी. साहब और नेताजी भी हमारी मजलिस के सदस्य थे।

गायकजी मजलिस के बीच में एक बड़े तूँबेवाले वाजे को अपने ताक़तवर आलिंगन से आक्रान्त कर तूँबे पर सवारी कसे हुए बैठे थे। मैंने बाजे का नाम पूछा तो एक मित्र ने क्या बताया वह मैं बातचीत और हँसी-मज़ाक़ के हल्ले में साफ़ न सुन सका—शायद उन्होंने 'तानघोड़ा' कहा। हम सब लोग बागेश्वरी, मालकोस आदि प्रचलित रागों के लिए सिफ़ारिशों का हल्ला पेश कर रहे थे; मगर एस. पी. साहब का 'जवन कल्यान' के लिए दबाव था। सामन्तवाद-विरोधी नेताजी 'दरबारी कानड़ा' माँग रहे थे कि इतने में गायकजी ने चारों ओर वीर-मुद्रा में दृष्टिपात करते हुए, होंठों को आक्रमणशील भर्त्सना से मरोड़कर कहा—'देश!'

'देश' नाम सुनते ही मजलिस की सारी हँसी परदेश भाग गयी। चारों ओर निस्तब्ध सन्नाटा छा गया, मानो बड़ा साहब तशरीफ़ लाये हों या कोई मर गया हो। गायकजी ने वीर-मुद्रा में चारों ओर सिर घुमाकर जब देख लिया कि कहीं कोई सिर नहीं उठा रहा है, तो भैंस के पँड़वे की आवाज़ में शुरू किया—आऽऽऽ!

बाज़ संगीत-शास्त्रियों का नियम है कि गाते वक़्त उनकी आवाज़ चाहे षोडशी की आवाज़-सी ही पतली और मधुर क्यों न हो, मगर शुरू में दो-चार मिनिट ठीक पँड़वे की आवाज़ में 'आऽऽऽ!' 'आऽऽऽ!' कर लेना ज़रूरी है। इनका मत है कि मधुर कण्ठ, सुन्दर कवितावाले शब्द, हृदयको प्रिय लगनेवाले लय और उतार-चढ़ाव, संगीत की शान में बट्टा लगाते हैं। कण्ठ हो पँड़वे-सा, शब्द या तो हों ही नहीं या यदि हों तो बेतुके और अत्यन्त पुराने और रूढ़ और वे भी स्पष्ट सुने न जायें, व्याकरण संगीत पर उसी तरह सवार हो जैसे हमारे गायकजी तानघोड़ाके तूँबे पर थे, और ताना-रीरी like a very wild bull in a very

congested china shop संगीत के आकाश में हड़कम्प मचाये हुए हो। इस आकर्षक संगीत की लम्बाई—डेढ़ घण्टा! इसका ध्येय—शास्त्रीय संगीत का प्रचार! इसको सुनने के बाद (ग़ौर कीजिए—'के बाद') श्रोता को वही आनन्द प्राप्त होता है जो सौ वर्ष के वैराग्य के बाद मुक्ति की प्राप्ति से तपस्वी को।

गायकजी ने कुछ क्षण बाद गले को थोड़ा और उतारकर शुरू किया—आऽऽऽ! थोड़ी देर बाद कुछ और नीचे—आऽऽऽ! जब देर हो गयी और उनका गले को उत्तरोत्तर उतारकर 'आऽऽऽ!' 'आऽऽऽ!' करना न रुका, कोई और भी शब्द निकलने लगे हों ऐसा कानों ने नहीं सुना, तो मुझे उनके स्वास्थ्य के विषय में आशंका होने लगी कि कहीं मेनन साहब की तरह इनका भी ब्लड-प्रेशर ज़ीरो न हो जाये।

काफ़ी देर प्रतीक्षा के बाद दूसरे शब्द निकले—'रुमझुम बदरवा बरसे!' उस ऋतु में ये शब्द भारतीय नव-मानव की इस उत्कट आशा-वादिता के परिचायक थे जो ही हमारी पंचवर्षीय योजनाओं की नाव को किनारे (किस किनारे ?) लगायेगी।

उन तीन शब्दों में बरसते हुए मेघ का जो वर्णन था उसे गायक के स्वरों ने साकार कर दिखाया। लगा, गाने में तीन ही स्वर इस्तेमाल हो रहे थे, सा, सा, और सां (यानी, मन्द्र, मध्य और तार सप्तक का 'सा'), सा से सा, और सा से सां तक तीव्र गति से जाता-आता उनका स्वर-विलास मेघों के बीच बिजली की कौंध और गड़गड़ाहट-सा दिशाओं को थर्रा रहा था—सा सां, सा सां, सा सां....रुम-झूम! रुम-झूम! रुम-झूम! तबलों से निरन्तर प्रतिध्वनि आ रही थी—धम! धम! धम! बारिश के तुरन्त पहले की ऊमस के Extreme annoyance का समाँ एस. पी. साहब, नेताजी और संगीत-टीम को छोड़कर बाक़ी सारी मजलिस पर व्याप्त था। मुझे तो लग रहा था कि शास्त्रीय राग के इस प्रचण्ड आग्रह की भी उपेक्षा कर अगर निरभ्र आकाश नहीं बरस रहा है तो मैं ही गायकजी पर बरस पड़ूँ।

महारथी 'देश' के सामने ठहरने की किसी की हिम्मत न रही; हम सबों के गाम्भीर्य और स्थिरता के पार्जे-पार्जे उड़ गये। प्रचण्ड झंझावात से चिथड़े-चिथड़े कर दिशाओं में फेंक दिये गये मेघ खण्डों की तरह हम अस्त-व्यस्त हो उठे। संगीत उत्तरोत्तर भीषण हो रहा था—रुमझूम! रुमझूम! रुमझूम....धम! धम! धम! मानो भाँग के नशे में दोनों ओर की सेनाओं को अपने-अपने शिविरों में खदेड़कर महारथी भीमसेन अव दुर्योधन के खाली रथ पर अपनी गदा पटक रहे हों—ठायँ! ठायँ! ठायँ! ठायँ!

गायक ने लक्ष्य किया कि जनता में utter demoralization व्याप्त हो रहा है। इसलिए वह हमारी ओर भर्त्सना से मुँह फेरकर जनता के प्रभुओं, एस. पी. साहब और नेताजी की ओर घूम गये। स्पष्ट था कि वे दोनों उस संगीत में बड़ा मज़ा ले रहे थे—संघर्ष-पटु होने के कारण मैदान से भागे न थे, बल्कि और उत्साहित थे। एस. पी. साहब की आँखें बन्द थीं और उनके बन्द होंठों पर परमानेण्ट मुसकराहट सटी हुई थी। स्प्रिंगदार गुड्डे की तरह एक गति से सिर हिलाते जा रहे थे। दायें हाथ की उँगलियों से यह निरन्तर ठोढ़ी के पास अपनी तोंद भी सहलाते जाते थे, मानो अहिंसावाद के कारण 'झूम! झूम!' के प्रहारों को क्षमा करते हुए वह सिर्फ़ घाव की जगह मलहम लगाते चल रहे हों। नेताजी की आँखें खुलीं और कलाकार के उस मेघ-श्याम मुख-छवि पर जमी हुई थीं जिसके खिचाव-चढ़ाव से लग रहा था मानो कला की सृष्टि में कलाकार को प्रसव की पीड़ा हो रही हो। नेताजी के आठ दाँत खुले हुए थे। उनके दाहिने हाथ की उँगलियों में नृत्य की मुद्राएँ और गति थी, और दूसरे हाथ से वह अपने बायें गाल पर उत्तरोत्तर जोरों से चपत लगाते चल रहे थे जहाँ बार-बार मच्छर बैठ जाते थे।

जब रात का तीसरा पहर आ गया, रात कुछ शीतल हो गयी, मन को कल पड़ा और आँखों में नींद आने लगी। खुले काले आकाश में गंगा यों चमचमाने लगी मानो डेढ़ हज़ार रुपये पानेवाले साहब की घरवाली

कमर से घुटनों तक की दुप्प सफ़ेद लँगोटी हो, और पपीहा इस तरह ज़ार-बेज़ार 'पीउ कहाँ, पीउ कहाँ' पुकारने लगा मानो हमारी श्रीमतीजीओं ने रिश्वत देकर उसे भेजा हो, तो मजलिस टूटी और हम अपने-अपने घर चले गये।

बोनस के पैसे-सी अति-मीठी ग्रीष्म-ऋतुकी उषा बोनस के पैसे-सी अति-कम भी होती है—लगता है, भूख जागकर रह गयी, कुछ मिला नहीं। नन्ही रातों-सी नन्ही प्रेयसी कलेजे से छुड़ाये नहीं छोड़ी जाती—क्योंकि दोनों में से किसी को खुर्राटे से फ़ुरसत नहीं।

हज़ार मक्खियों से जुते रथ पर, दस हज़ार कौओं की खुशामदों के साथ, भगवान् किरण-नेता बिना काम के आदमी की तरह घण्टे-भर पहले ही उदय हो गये और डिप्टी की तरह पहले दस साल फिसफिसाने के बजाय आइ. ए. एस. की तरह उदय होते ही तपने लगे।

आज़ादी के बाद शास्त्रीय संगीत का प्रचार बढ़ा है, ऐसा सुनकर, शहनाई पर भैरवी के सपने देखता जब रविवार को कुछ रू से आँखें खोलीं तो फुल और रेडियों में दिगन्त-व्यापी भगवद्-वन्दना हो रही थी।

"हाय, तेरे दुनिया की हालत
क्या हो गयी भगवान
कितना बदल गया इनसान!"

अगर आपका हाज़मा खराब रहता हो तो सुबह बिस्तर से उठते ही उठते ईनोज फ्रूट साल्ट का सेवन कीजिए! ज़रूर कीजिए।

"हाय, तेरे दुनिया की हालत
क्या हो गयी भगवान
ईनो! ईनो! ईनो!
जल्दी जल्दी कीनो!
हाय, तेरे दुनिया की हालत...."

सुबह, पर ग्रीष्म की। सुमनवती, फलवती (पर divorced) मेरी इस छोटी नगरी के एक शायर ने अपने प्रिय को 'शोला-रू' (यानी, आग के शोले की-सी मुख-कान्तिवाला) कहा है; माशूक़ को आफ़ताब (सूरज) तो और लोग भी कह चुके हैं। अपनी-अपनी पसन्द है। वैसे, मेरे एक पड़ोसी का घरवासी माशूक़ जब चुने हुए विशेषणों द्वारा आकाश को दोलायमान करता हुआ शोला-रू होता है, तो मेरे पड़ोसी साहब तेज़ी से भागते हुए मेरे घर में घुस आते हैं और कई-कई दिन लगातार मुझे अपने सहवास से अनुगृहीत करते हैं। अँगरेज़ी ज़माने में एक गवर्नर के एक अँगरेज़ ऐडवाइज़र साहब थे, जो मौक़े-बे-मौक़े अपने बँगले से रेकॉर्ड स्पीड से भागते देखे जाते थे—उनके 'शोला-रू' 'आफ़ताब' के 'करों' से उत्प्राणित रंग-बिरंग की बेशक़ीमती ज़नानी जूतियाँ बँगले के फाटक तक लपक-लपककर उनका साथ देतीं।

गद्य से अभिन्न मेरी 'प्रयोगवादी कविता' की तरह, अभी दिन उठा नहीं कि प्रभात और दोपहर में फ़र्क़ न रहा। अन्दर से विघटित, ऊपर से विलगित, आजकल के हिन्दी साहित्य के कितने ही नायकों की तरह, लोग सरे सुबह ही पसीना बहाते थक-थककर बैठने लगे।

कामकाजू होकर भी सूर्य असह्य हो उठा, यान्त्रिक प्रशासन की तरह, कि जिसकी अन्धेर नगरी में,

"मुँह बाँधे एकत जरत अहि मयूर मृग बाघ।
देश नदी-तट सों कियो दीरघ दाघ निदाघ॥"

घह-घह-घह-घह आग जले !

(राग—'दीपक', यानी उद्दीपक।

आधार-सहगल का

'दिया जलाओ, दिया जलाओ')

"आग जले ! आग जले !
धह-धह-धह-धह आग जले !
अनल-किरीट, ज्वलन-मन हे !

रक्त-कुसुम तन वसन वि-चंचल
अरुण दोल उन्मत्त हृदय नल
लोहित लोल त्रिलोचन हे !

प्रखर-किरण-शर, निर्मम-शासन,
आया ग्रीष्म सुगन्ध गजासन,
मद-गज चण्ड प्रभंजन हे ।
जत्र दहले ! व्योम बले !
धह-धह-धह-धह आग जले !

(शास्त्रोक्त राग दीपक
का स्वरूप और समय)"
Reference याद नहीं ।

बन्द खिड़की के शीशे से देख रहा हूँ, गरम पानी में पीले केसर और गुलाबी बदनवाला कमल मुसकरा रहा है। गरम सड़कों पर पीले केश और गुलाबी बदनवाली दो-एक अँगरेज़ महिलाएँ घूम रही हैं, कोई और नज़र नहीं आता । मसल मशहूर है—

Mad dogs and Englishmen
Go out in the midday sun.

बारह बजने को आये ।

मंगल कामना—शाम जिस ऋतु की सब शामों से नायाब है; चाँदनी जिस ऋतु की सब चाँदनियों से सुहावनी है; नसीम जिस ऋतु की अंग-अंग में सुगन्धित है; और प्रियतमा की लुनाई जिस ऋतु में खूब खुलकर

आती हैं; उस ग्रीष्म की छोटी-छोटी रातें आपको और भी छोटी लगें। आपका कल्याण हो।

आपका प्रान्त गुलमोहर, शिरीष और अमलतास-सा समृद्ध हो। आपके पड़ोसी प्रान्त पर पतझड़ आ जाये। आपका हृदय शीतल हो। आपके पड़ोसी प्रान्त में आग लगे। आपका कल्याण हो। दूसरों का न हो। आमीन।

□ □

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रोफ़ेसर राही : सौन्दर्य-बोध के मूड में

□

आप कहेंगे कि यह सौन्दर्य-बोध कौन-सी बला है ? और इसका हास्यरस से क्या सम्बन्ध है लेकिन यक़ीन मानिए सौन्दर्य-बोध और हास्यरस की मिलावट इस युग की देन है और इस मिलावट के युग में इसका एक विशेष रस है ! सौन्दर्य-बोध का मज़ाक़ एक नया अन्दाज़ है। जिसकी रंग-रंगी और दिल हिला देनेवाली दास्तान में वह-वह लच्छे हैं कि बस तबीयत ही अश-अश करके रह जाती है और इन सबके नायक हैं हमारे दोस्त जिनसे आप सब परिचित हैं और जिनका पूरा नाम तो मुझे मालूम नहीं बस इतना ही जानता हूँ—प्रोफ़ेसर राही—जी हाँ—वही प्रोफ़ेसर राही ।

वैसे तो प्रोफ़ेसर राही मेरे दोस्त होते हैं किन्तु दोस्त के साथ-साथ वह एक सौन्दर्यशास्त्र के वक्ता, राजनीति के कर्ता और साहित्यशास्त्र के धर्ता भी हैं। जब उनके ऊपर सौन्दर्यशास्त्र का भूत सवार होता है तो वह डेढ़ रुपये की मिट्टीवाली महात्मा बुद्ध की मूर्ति के लिए दस रुपये की चौकी बनवाते हैं, मुफ़्त अपने किसी चित्रकार मित्र की स्टूडियो से उड़ायी हुई तसवीर में मोटा, चौड़ा और पुख्ता चौखटा लगवाते हैं, विशालकाय पठाररूपी आँगन में गुलाब का पेड़ लगवाते हैं और बढ़िया से बढ़िया गेबरडीन और सर्ज के सूट में ठर्रेवाला बटन हॉल लगवाते हैं ताकि कोई गुलाब की कली उसमें फाँसी न जाये वरन् उस ठर्रे में बाँधी जाये ताकि कभी भी किसी भी हालत में वह छान-पगहा तुड़ाकर भागने न पाये और अगर भागने की कोशिश करे भी तो महज़ छटपटाकर रह जाये। लेकिन मुसीबत यह है कि प्रोफ़ेसर राही गुलाब की कली नहीं फूल लगाते हैं—

फूल भी इतना बड़ा कि वह छोटी-मोटी गोभी के बराबर होता है। गले के नीचे बायीं तरफ़ दिल के ऊपर वह दिन में कई बार उगाया जाता है। गुलाब भी उनके घर की पैदावार है, इसलिए उसमें किफ़ायत नहीं करते। कहीं भी जाते समय वह डाल समेत उसे उखाड़ते हैं और झाड़-झंखाड़ के साथ अपने बटन होल में खोंसकर इठलाते हुए रिक्शे पर सवार होकर कम से कम दिन में एक बार घर से ज़रूर निकलते हैं। जूड़े के फूल के समान उनका फूल भी ऐसा चमकता है कि रास्ते के लोगों की निगाह उन पर बरबस पड़ ही जाती है और इस प्रकार उनका सौन्दर्य-बोध हर दिशा से सर्वसम्मति के साथ स्वीकृत का अनुमोदन पाता हुआ 'गद्-गद्' हो जाता है।

आज सुबह-सुबह जब मैं उनके यहाँ पहुँचा तो वह एक दुर्घटना में उलझे हुए परेशान बैठे थे। प्रोफ़ेसर राही को इस तरह परेशान होते मैंने दो बार देखा था। एक तो जब उनके कुँआरेपन पर उनके मित्रों की बीवियाँ उनकी लिहाड़ी ले रही थीं और वह अपने साथी विवेक—जो केवल ऐसे ही मौक़ों पर उनको धोखा देकर भाग जाता है—के अरदब में घिरे मुहरे की भाँति पिटे-पिटे-से बैठे हुए थे और वह महिलाएँ कह रही थीं—"क्या किया आपने राही साहेब!

यह फूल का घण्टाघर दिल के ऊपर लटकाने से कुछ नहीं होता—इससे थोड़े ही कोई आपको दिल दे बैठेगा। और कुछ नरमाहट से काम लीजिए—संगीत से शौक़ कीजिए। कुछ पत्र-वत्र लिखिए शायद काम बन जाये नहीं तो....नहीं तो...."

और राही साहब पसीने से तर-बतर, विचित्र भ्रू-भंगिमा से मुसकराते और कुछ बुदबुदाकर रह जाते, अपने कुँआरेपन पर झख मारते और छत की कड़ियाँ गिनने लगते। कभी-कभी तो घबराहट में चाय पिलाने लगते, या अगर उससे भी नहीं बच पाते तो पूछते—"आपको कोई उपन्यास चाहिए....यह लीजिए....यह टेढ़े-मेढ़े रास्ते....पढ़िए....यह पत्रिका पढ़िए.... हाँ कहिए श्यामजी का क्या हाल है....हटाइए भी....छोड़िए इस कुँआरेपन

की बात....।" लेकिन औरतें भला कब छोड़तीं और खासकर शादी-शुदा पुराँयठ क़िस्म की औरतें कुँआरों को ऐसे ही देखती हैं जैसे भूखा बंगाली भात को देखता है या बिल्ली शिकार में चूहे को देखती है। उनके लाख कहने पर भी वह कहती जातीं—"अरे लाला क्या करोगे यह कमरा सजा के, यह बुद्ध मूर्ति, यह गुलाब की फ़सल, यह रंग-बिरंगा कमरा, यह सुरमई परदा—यह सब बेकार है। उमर बीती जा रही है लाला—अब भी ग़नीमत है! कुछ कर गुज़रो नहीं तो क्या फ़ायदा...."

लेकिन राही साहब सब सुनते जाते और जब वह बीवियाँ चली जातीं तो ग़ालिब का दीवान उठाते और अपनी क़िस्मत को कोसते हुए बड़े दर्द-भरे लहजे में गाते—

यह कहाँ थी मेरी क़िस्मत कि वसाले यार होता,
कुछ और दिन जो जीते यही इन्तज़ार होता
तेरे तीरे नीमकश को कोई मेरे दिल से पूछे
यह खलिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता

ग़ज़ल गूँजती और गूँजकर रह जाती। कमरे की ठण्डी मूर्तियाँ सुनतीं और ज्यादा ठण्डी हो जातीं। मीनाक्षी से लेकर अपरना तक की पेण्टिंग्स उन्हें दर्द-भरी निगाहों से देखतीं और फिर खामोश हो जातीं। कोट में लगा हुआ गुलाब थोड़ा झुकता लेकिन फिर सँभल जाता—यह होता क्योंकि इसके सिवा कुछ भी और नहीं हो पाता।

लेकिन आज जिस दुर्घटना में वह शामिल थे, वह दूसरे प्रकार की थी। हुआ यह था कि उनके कोट का वह बटन होल, जिसमें वह गुलाब की झाड़ खोंसकर चलते थे, टूट गया था।

उनको बेहद परेशान देखकर मैंने प्रस्ताव किया कि चलिए दर्ज़ी के यहाँ दूसरा बटन होल लगवा लें।

और अन्ततोगत्वा हम दोनों दर्ज़ी की दुकान पर गये। प्रोफ़ेसर राही ने रास्ते में बटन होल पर अच्छी-खासी तक़रीर दे डाली। मैं भी सुनता

रहा मसलन यह कि सोलहवीं सदी के इंग्लैण्ड में कैसे बटन होल्स बनते थे। फिर सतरहवीं सदी के अँगरेजी साहित्य में वह बटन होल उस साहित्य में कैसे पहुँचा। फिर अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में पेरिस में इन बटन होल्स में क्या-क्या लगाया जाता था। उत्तरार्ध में यह कैसे उनकी पोशाक के साथ विकसित होकर कैसे-कैसे ड्रिकेडेण्ड तत्त्वों का प्रतीक बना—ग़रज़ कि साहेब दर्द के मारे प्रोफ़ेसर राही ने उस दिन वह-वह करतब दिखाये कि दर्ज़ी की दुकान तक पहुँचते-पहुँचते मेरी तबीयत झक हो गयी और फिर भी उनकी बटन होल गाथा पूरी नहीं हुई। ज्यों की त्यों चलती रही।

दर्ज़ी भी समझिए कि जाना-पहचाना था। प्रोफ़ेसर राही की रुचि के बारे में भी उसने अच्छा-खासा अध्ययन कर रखा था इसलिए पहुँचते ही उसने प्रोफ़ेसर साहब को आदाब अर्ज़ किया और बोला, "कहिए कैसे तशरीफ़ ले आये ? क्या बटन होल फिर टूट गया ?" प्रोफ़ेसर राही ने ज़रा व्यंग्य के लहज़े में कहा, 'जी हाँ, सुना था मुसलमान दर्ज़ियों में जहनियत ज्यादा होती है। अगर वह रगेगुल से बुलबुल के पर बाँध सकते हैं तो रँगे रेशम से उनको फूल बाँधना तो आता ही होगा ! लेकिन आपने तो वह सुबूत पेश किया है कि बस रँगे रेशम से फूल क्या काँटे भी नहीं बाँध सके।"

एक साँस में इतना कह देने के बाद जब प्रोफ़ेसर राही ने बात खत्म की तो दर्ज़ी ने बात शुरू की। बोला, "अजी साहब, लगते तो फूल ही हैं और कुछ फूल के लिए तो महज़ एक इशारे का सहारा चाहिए, यह तो लगता है आप इसमें पूरा पेड़ ही लगा देते हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो इसके टूटने की कोई गुंजाइश ही नहीं हो सकती थी।"

प्रोफ़ेसर राही अब तक काफ़ी गुस्सा पी चुके थे। झुंझलाकर बोले, "आप बकवास मत करिए। मैं जैसा हूँ उस प्रकार का बटन होल बनाइए। क्या आप समझते हैं कि मैं इसमें स्वीटपी का फूल लगाऊँगा ? मुझे गुलाब पसन्द है....मैं गुलाब लगाता हूँ गुलाब...., दर्ज़ी से न रहा

गया, झुँझलाकर बोला, "गुलाब भी कई क़िस्म के होते हैं—आप कली लगाते हैं कि फूल ?"

अब तक मैं सिर्फ़ सुन रहा था बोला, "बड़े मियाँ, कलियाँ तो नसीबवाले चुनते हैं। यह फूल लगाते हैं, फूल।"

"जी हाँ, इसीलिए मैंने पूछा हुज़ूर, क्योंकि यह बटन होल दिल के पास की जगह होती है—गुंजायश का खयाल रखना चाहिए।" दर्ज़ी ने कहा।

जी में आया कह दूँ मियाँ यह बड़ा फूल लगाते इसलिए हैं कि उससे इनके दिल के विस्तार का सही अन्दाज़ देखनेवाले को लग जाये। अभी तक तो यह वीरान ही है—शायद फूल के पैमाने से दिल का चमन बाग-बाग हो जाये। लेकिन अभी तो कोई सूरत नज़र नहीं आती। लेकिन मैंने राहीजी की तेवर देखकर कहा नहीं। दर्ज़ी भी काम में लग गया। थोड़ी देर बाद बटन होल बनाकर उसने पेश किया। इस बार उसने रेशम की डोरी का ठर्रा बनाया था और बट-बटकर उसे इतना तगड़ा किया था कि वह गैबरडीन की कोट पर उगा हुआ रेशम का कोया लग रहा था। प्रोफ़ेसर राही ने उसमें अपनी मोटी रेड ब्ल्यू पेन्सिल डालकर देखना चाहा और वह फिर टूट गया। उसका टूटना था कि प्रोफ़ेसर ने कोट को दर्ज़ी के ऊपर फेंक दिया और ग़ुस्से से काँपते हुए बोले—"तुम में कुछ भी एस्थिटिक सेन्स नहीं है—ऐसे बटन होल बनता है! ज़रा-सा सहारा दिया कि चट्ट टूट गया।" और यह कहते हुए वह उलटे क़दम घर की ओर वापस आ गये।

दूसरे दिन लोगों ने देखा कि उनके गैबरडीन पर उगा हुआ रेशमी कोया अब एक कीड़े की शकल का बटन हॉल बन गया था और उसके बीच गुलाब का एक पूरा गाछ ठुँसा हुआ था। कुछ दिनों तक लोगों ने टोका लेकिन अब सब चुप हो गये हैं क्योंकि देखने में बेढंगा लगने पर भी अब सबको वही देखने की आदत हो गयी है। प्रोफ़ेसर ने नये सौन्दर्य-बोध को जन्म दे दिया है। इस घटना को भी आज तीन साल हो चुके

हैं। पास-पड़ोस के लोग कहते हैं कि यह नौजवान अकसर गुलबकावली के नायक की तरह आधी रात गये अपनी गुलाबवाड़ी में यह गाते हुए पाया जाता है—

"यह कहाँ थी मेरी क़िस्मत कि विसाले यार होता।
कुछ और दिन जो जीते यही इन्तज़ार होता।।"

□ □

शान्ति मेहरोत्रा

सुरख़ाब के पर

□

राम्ःबाबू ऊपर के कमरे में ही अपना अधिकांश खाली समय बिताते हैं, यह तो उनके सभी परिचित जानते हैं किन्तु कौन-सा ऐसा आकर्षण है जो उन्हें घर के सबसे छोटे कमरे से बाँधे रहता है, इस रहस्य का पता बहुत ही कम लोग लगा पाये हैं। उनके कमरे में प्रवेश करने की अनुमति किसी को भी प्राप्त नहीं है—उनकी पत्नी तक को नहीं। अतः उनके कमरे को लेकर तरह-तरह की अफ़वाहें लोगों में फैली हुई हैं। कोई कहता है कि वे कवि हो गये हैं, किसी का अनुमान है कि वे किसी खोज में व्यस्त हैं, कोई उन्हें क्रान्तिकारी घोषित करने पर तुला है तो किसी के विचार से वे सिद्धि प्राप्त करने के चक्कर में हैं और स्वयं उनकी पत्नी का मत है कि उन्होंने उस कमरे में अपनी पूर्व प्रेमिकाओं के पत्र छिपाकर रखे हैं।

होली की शाम को भोजन कर चुकने के बाद रामबाबू दबे पाँव ऊपर चले तो उनकी पत्नी ने झल्लाकर कहा—

"क्यों जी, त्योहार के दिन भी दस मिनिट बैठकर बात करना मुश्किल है? जब देखो तब मुई कोठरी में ही बन्द होकर रहते हो।.... राम जाने कौन-सा खज़ाना गड़ा है उसमें!"

"तो बातें करो न, मैं कब मना कर रहा हूँ। तुम्हें जो कुछ कहना हो नीचे से कहती रहो, मैं ऊपर से जवाब देता रहूँगा!"

"हाँ, हाँ, जंवाब तो खूब दोगे! एक मैं ही पागल मिली हूँ न जो गला फाड़-फाड़कर चिल्लाती रहूँगी!....जाओ, जाओ....तुम्हें तो एक-एक पल भारी हो रहा होगा!" मौक़ा पाकर रामबाबू "तो फिर तुम्हारी

मर्ज़ी !" कहते हुए ऊपर चले गये। ज़ीने में उन्होंने चौकन्ने होकर एक बार चारों ओर देखा फिर ताला खोलकर फ़ौरन कमरे को भीतर से बन्द कर लिया। कमरा छोटा होते हुए भी सुरुचिपूर्ण ढंग से सजा था। एक ओर बेंत की बुनी हुई लम्बी बेंच पड़ी थी। उसके ठीक सामने शीशम की लकड़ी का एक सुन्दर रैक दीवार से सटा हुआ रखा था। उसके छोटे-छोटे खानों के ऊपर क्रम से मुण्डन, कनछेदन, जनेऊ, तिलक, विवाह, कवि-सम्मेलन, हास्य-गोष्ठी, कथा-गोष्ठी तथा नाटक लिखा हुआ था। उन खानों में रंग-बिरंगे निमन्त्रण-पत्र दीवारों पर सुन्दर-सुन्दर फ्रेमों में जड़े टँगे थे। कमरे के बीचोबीच एक मेज़ और उसके पास एक कुरसी रखी हुई थी। रामबाबू कुरसी पर बैठकर मेज़ पर रखे रजिस्टर के पन्ने उलटते हुए तीसवें पृष्ठ पर रुक गये, जिसकी हूबहू नक़ल अगले पृष्ठ पर है—

अपने विशेष सुझावों की दूरदर्शिता एवं सफलता पर रामबाबू विजय-गर्व से ऐसे मुसकराये जैसे सिकन्दर बन्दी पोरस को देखकर मुसकराया होगा। उन्होंने खूँटियों पर टँगे सूट, अचकन और धोती-कुरते की ओर आलोचक की पैनी दृष्टि से देखा और पूर्व-अनुभवों के आधार पर धोती-कुरते को चुन कर, रूमाल पर और कानों के पीछे हिना का इत्र लगाकर कहानी-सम्मेलन का आनन्द लेने चल दिये।

रामबाबू के सन्तुष्ट जीवन में एकमात्र महत्त्वाकांक्षा थी किसी दिन मंच पर बैठने की। किन्तु निरन्तर प्रयत्नशील होते हुए भी वे अब तक इस दिशा में सफल नहीं हो पाये थे। उस दिन कहानीकारों की भीड़ देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और यह सोचकर कि सम्भव है झपसट में उन्हें भी मंच पर बैठने का अवसर मिल जाये, वे सीधे उसी ओर अग्रसर हो गये। उनका हृदय धक्-धक् कर रहा था फिर भी वे वीरतापूर्वक मुसकराते हुए आगे बढ़ रहे थे किन्तु जिस मुसकान के बल पर वे क़िला फ़तेह करने चले थे उसने उन्हें ऐन-मौक़े पर दग़ा दे दी और मंच तक पहुँचते-पहुँचते वे सकपकाये हुए सहमी-सहमी निगाहों से इधर-उधर देखने लगे। उन्हें इस

निमन्त्रणपत्र की तिथि	द्वारा	प्राप्ति-व्यय	आकार	अवसर	समय	विशेष सुझाव
१-५-५७	राम खिलावन दरीवाला	कुछ नहीं । केवल पण्डाल की सजावट में योग देना पड़ा	(मौखिक) निमन्त्रण	संगीत-सम्मेलन	रात्रि दस बजे	सूट पहनकर गया था जो इस अवसर पर बिल-कुल नहीं जमा; अगली बार अचकन ट्राई करूँगा । बहुत तिकड़म लड़ाने पर भी मंच तक पहुँचने की नौबत नहीं आयी ।
५-२-५७	कविवर मुखरेशजी	पान-सिगरेट पर साढ़े सात आना । अपने साथ चाय पिलायी और भोजन भी कराया ।	४" × ६" छपाई सुन्दर । पत्र जड़वाने योग्य है ।	वसन्त पंचमी के अवसर पर कवि-सम्मेलन	सायंकाल आठ बजे	मुखरेशजी द्वारा भविष्य में भी निमन्त्रण-पत्र मिलते रहने की आशा है अतः उन्हें चाय पिलाते रहना चाहिए विशेषकर जाड़े में । किन्तु उनसे छुट्टी के दिन भेंट करने में ही कुशल है अन्यथा नौकरीपर बात जाने की आशंका है क्योंकि वे जब भी आते हैं, छह-सात घण्टे से कम नहीं बैठते । पिछली बार उन्होंने अपनी २३ कविताओं का पाठ किया । उन पर रंग जमाने के लिए मुझे भी कहीं से दो-चार कविताएँ जुटानी होंगी ।
१६-३-५७	जग्गूमलजी	चाय–तीन आना पान–दो आना	२" × ४"	कहानी-सम्मेलन	सायंकाल सात बजे	जग्गूमलजी की उदारता की पूरी-पूरी प्रशंसा की; उन्हें इस आयोजनके लिए बधाई दी और यह सिद्ध कर दिया कि संसार में यदि कोई सच्चा कला-प्रेमी है तो वे स्वयं ! इससे वे काफ़ी प्रभावित हुए । आगे को इस नीति से काम लिया जा सकता है ।

दशा में पाकर एक प्रबन्धकर्ता महोदय फ़ौरन उधर लपके और बोले—

"श्रीमान्, क्या आप भी आमन्त्रित कहानीकारों में हैं ?"

"जी ?....जी नहीं....मैं तो एक प्रबुद्ध श्रोता मात्र हूँ !"

अपने वाक्‌चातुर्य पर प्रसन्न होकर रामबाबू ने मंच पर पहुँचने के लिए बनी सीढ़ी पर पैर रखा ही था कि प्रवन्धक महोदय उन्हें रोकते हुए कहने लगे—

"आप कैसे भी श्रोता हों, कृपया मंच पर मत जाइए। यहाँ नीचे बैठिए।"

"क्यों जनाव, आप कौन होते हैं मुझे रोकनेवाले ? मैं मंच पर क्यों नहीं बैठ सकता ?" रामबावू ने धमकाते हुए पूछा।

"आप भी विचित्र व्यक्ति हैं ! अरे भाई साहव, कह तो रहा हूँ कि वहाँ केवल लेखकगण ही वैठ सकते हैं। आपके कौन-से सुरखाब के पर लगे हैं जो वहाँ चढ़कर बैठेंगे ?"

रामबावू खिन्न होकर श्रोताओं में वैठ तो गये किन्तु सुरख़ाव के परों को लेकर उनके मन में हलचल-सी मच गयी। वार-बार वे सोचने लगे कि जैसे भी हो, कहीं न कहीं से सुरख़ाव के पर अवश्य हथियाने चाहिए। इस रात घर लौटने पर उन्होंने अपने रजिस्टर में लिखा—

"सुरखाब के पर ही सफलता की कुंजी हैं। उन्हें प्राप्त करना आज से मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय होगा।"

उनके इने-गिने मित्र जब उन परों के प्राप्ति-स्थल पर प्रकाश न डाल सके तो वे अपनी बुद्धि का सहारा ले, शनिवार की शाम को दफ़्तर से लौटते समय सीधे हैटवाले की दुकान पर जाकर बोले—

"देखिए, कुछ बढ़िया-बढ़िया हैट दिखाइए।"

दुकानदार ने उनके सामने हैट का ढेर लगा दिया। रामबाबू ने कुछ झुंझलाकर पूछा—

आपसे कहा न कि बढ़िया हैट दिखाइए जिनमें कुछ पर-वर लगे हों। ये सब तो बिलकुल बेकार हैं।

"दुकानदार ने परवाले हैट भी दिखाये। इन्हें देखते ही रामबाबू खिलकर बोले—

"अब आपने असली माल निकाला है। इनमें से किसी हैट में क्या सुरखाब के पर भी लगे हैं ?"

दुकानदार अभी व्यवसाय में कच्चा था; बोला—

"यह सब तो हमें नहीं मालूम। जो माल है, वह आपके सामने है। देख लीजिए, अगर पसन्द हो तो बताइए।"

"पसन्द को तो सभी अच्छे हैं। लेकिन बात यह है कि मुझे एक खास तरह का हैट चाहिए—अच्छा, फिर किसी दिन फ़ुरसत से आकर देखूँगा, अभी ज़रा जल्दी में हूँ" कहते हुए रामबाबू बाहर आ गये। उन्होंने सोचा कि अगर हैट में सुरखाब के पर लगते होते तो दुकानदार को ज़रूर मालूम होता; लेकिन उसकी बातों से स्पष्ट है कि वह इस बारे में कुछ नहीं जानता।

इस विषय पर पुनः गम्भीरता पूर्वक विचार करने के बाद उन्हें ध्यान आया कि वैद्य लोग सोने, चाँदी, मोती आदि बहुत-सी चीज़ों की भस्म रोगियों को देते रहते हैं, हो सकता है कि सुरखाब के परों की भस्म भी रखते हों और अगर भस्म उनके पास होगी तो पर भी ज़रूर मिल जायेंगे। यह सोचते-विचारते वे वैद्यराज भगवानदास के पास पहुँचे और उनके पास बैठे अन्य रोगियों को देख कान के पास झुककर बोले—

"वैद्यजी, आपके पास सुरखाब के पर होंगे ?"

वैद्यजी ने अपनी अनुभवी दृष्टि उनपर टिकाते हुए पूछा—

"काहे के लिए चाहिए बेटा ? कौन रोग है तुम्हें ?"

"जी रोग-ओग कुछ नहीं है। आप बता दीजिए कि वे पर आपके पास हैं या नहीं।"

वैद्यजी ने लपककर उनकी नब्ज़ थाम ली और मुँह बनाकर बोले—

"मुझे भी यही सन्देह था। यह वायु के प्रकोप का लक्षण जान पड़ता है। ऐसा पहले भी कभी हुआ है ?"

"कैसा ?"

"यही जी घबड़ाना, आँय-बाँय बकना...."

"लेकिन मैं बिलकुल ठीक हूँ, वैद्यजी।"

"बेटा, मुझसे हर रोगी यही कहता है। खैर मैं एक चटनी दे रहा हूँ वह दिन में तीन बार चाटना और एक चूर्ण दे रहा हूँ उसकी पुड़िया प्रातः और रात्रि में सोने से पहले फाँक लेना। दस-पाँच दिन में ठीक हो जाओगे। चिन्ता की कोई बत्त नहीं है।"

इस बार रामबाबू ने गरम होकर कहा—

"आप व्यर्थ की बातें मत करिए। साफ़-साफ़ बताइए कि पर आपके पास हैं या नहीं—आप क्या समझते हैं मैं दवा लेने आया हूँ—मुझे पर चाहिए पर?"

वैद्यजी के नेत्रों में करुणा झलकने लगी, उन्होंने सिर हिलाते हुए अन्य रोगियों से कहा—

"बेचारे की अभी उम्र ही क्या है! रोग असाध्य जान पड़ता है!" फिर रामबाबू से पूछने लगे—"कोई तुम्हारे साथ आया है?"

रामबाबू ने आग्नेय नेत्रों से वैद्य की ओर घूरकर कहा, "मूर्ख कहींका।" और वहाँ से सीधे घर लौट गये।

इस घटना से खिन्न होकर रामबाबू ने कुछ दिन सुरखाब के परों के बारे में किसी से कोई चर्चा नहीं की। किन्तु एक दिन अपने चिर-परिचित पानवाले को, तरह-तरह की चिड़ियों के पिंजड़े उठाये हुए एक बहेलिये से बात करते देख मानो उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया। उन्होंने अपनी चिर-वांछित वस्तु की माँग बहेलिये के सामने दोहरा दी। बहेलिया नम्बरी काइयाँ था। झट कहने लगा—

"सरकार, एक सुरखाब क्या, दस सुरख़ाब आपके चरणों में लाकर दूँगा लेकिन उसे पकड़ना बड़े जोखिम का काम है। घने जंगल में जाना पड़ेगा मालिक, फिर भी तय नहीं कि वह परिन्दा हाथ लग ही जाये। हाँ! क़िस्मत अच्छी हुई तो बात दूसरी है। यहाँ एक डिप्टी साहब रहते थे सरकार—अब तो उनकी बदली हो गयी—वे बड़े शौक़ीन थे सुरखाब

के परों के। एक-एक पर का पचास-पचास गिन देते थे। बड़े दरियादिल थे सरकार....भगवान् उन्हें खुश रखें।....हाँ तो सरकार को कितने सुरखाब चाहिए ?"

दाम सुनकर रामबाबू के होश आख्ता हो गये। संकोच के साथ बोले, "भई, मुझे पूरे सुरख़ाब का क्या करना है....बस दो पर मिल जायें तो काफ़ी हैं। मेरा काम चल जायेगा !"

बहेलिया बड़े एहसान के साथ चार दिन बाद पच्चीस रुपयों के दो पर लाने की बात पक्की करके चला गया और रामबाबू गद्‌गद होकर मंच के सपने देखने लगे।

चौथे दिन बहेलिये ने पर उनके हवाले किये। क्योंकि इस दिशा में रामबाबू से 'अथारटी' मान चुके थे इसलिए उन्होंने बिना किसी शंका के उन परों को सुरख़ाब का मान लिया। उस अमूल्य निधि को पाकर उन्हें ऐसा लग रहा था मानो वे उनके सहारे ऊपर उड़ते चले जा रहे हों और धरती के अभागे प्राणी मुँह बाये, आश्चर्यचकित-से टुकुर-टुकुर उन्हें ताक रहे हों।

सौभाग्य से प्रथम चैत्र को नव-वर्षोत्सव के उपलक्ष्य में एक विराट् कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ और कविवर मुखरेशजी को घेर-घारकर रामबाबू ने निमन्त्रण-पत्र भी हथिया लिया। खूब सज-सँवरकर, कोट के बटन होल में दोनों पर खोंस, हाथ में गुलाब का फूल लिये वे पण्डाल में जा पहुँचे। कार्यक्रम आरम्भ हो चुका था। रामबाबू तीर की तरह सीधे मंच की ओर बढ़ चले। एक सज्जन ने मंच के पास उन्हें रोककर विनम्र स्वर में पूछा—

"क्या आप भी आज के कार्यक्रम में भाग ले रहे हैं ?"

"नहीं" रामबाबू ने आगे बढ़ते हुए निहायत बेरुखी के साथ जवाब दिया।

"तो....सुनिए....आप इधर पीछे की ओर बैठ जाइए....चलिए मैं जगह दिलवा दूँ।"

"कोई जरूरत नहीं है, आप कष्ट न करें। हम मंच पर ही बैठेंगे" रामबाबू ने अकड़कर कहा।

"लेकिन वहाँ तो केवल कविगणों के बैठने का प्रवन्ध है" उक्त सज्जन ने प्रार्थना की।

"होगा। इससे मुझे क्या ? आप अपना काम देखिए, बेकार बकवास मत करिए।"

वे सज्जन भी कुछ गरम होकर बोले, "वाह साहब ! आप तो ऐसे बढ़-बढ़कर बोल रहे हैं जैसे सुरखाव के पर लगाकर आये हैं कि मंच पर जा बैठेंगे।"

अब रामबाबू से सहन न हो सका और वे चिल्लाकर कोट पर लगे परों की ओर संकेत करते हुए बोले, "ये सुरखाव के पर नहीं तो क्या हैं ? अन्धे हैं आप ? दिखाई नहीं पड़ता ?"

और जबतक वे सज्जन परिस्थिति समझें-समझें रामबाबू उचककर मंच पर जा बैठे और विजय-गर्व के साथ मुसकराते हुए कवि-गण तथा श्रोता-वर्ग की ओर घूम-घूमकर देखने लगे।

●

सैयद शफ़ीउद्दीन

बक़ौल

□

एक (मित्र) समीक्षक :

"....मानना पड़ेगा कि, 'डैश' आज के प्रयोगवादी कवियों से दो क़दम आगे हैं—

"अ. जो लिखा है, अजोबो-ग़रीब टेकनीक को अपनाकर। [जिसे देखकर लाज़िमी है बड़ों-बड़ों के मुंह का खुला रह जाना....और कुछ क्षणों के लिए दिमाग़ में इस तरह के ख़यालात का मंडरा जाना, कि आसमान ऊपर है या ज़मीन; अथवा सूरज डूब गया और दिन नहीं निकला ? ?....]

"ब. विचित्रता की धुरी पर आधारित और नयेपन की इस्त्री-तले प्रेस किये होने के बावजूद उनकी कविताओं में छायावादी खुशबू का मिश्रण होता है—यानी बहुत-कुछ के अलावा उनमें 'कुछ' ऐसा भी है जो बहुत नाज़ुक, बहुत प्रिय, बहुत मधुर होता है, जो अन्यत्र नहीं मिलता : सिर खपाने पर भी !

उदाहरण देखिए ['कोपलें' का]—

"अभी फूटीं
कोई बात नहीं
अभाव स्थानापन्न है
—सुहानापन ही....
किन्तु भ्रम है—अमर है भ्रम
रेत के कण भी चमकते हैं

किन्तु रेत....
(इतिहास के पन्ने देखिए !)
सहारा 'होना' है,
जो नहीं होता
अस्तु,
टिके कब तक
खिले का खिला रहना....?"

"है कहीं ऐसा अनबूझ आइडिया, है कहीं ऐसी नज़ाकत, कोमलता, प्रवाह ? !"

चाचा 'ग़ुरबत', चायवाले :

कोई एक—"चचा, बड़ा ऐंठू ख़ाँ बना फिरता है !"

कोई दूसरा—"मत कहिए साहब, दिमाग़ की तो कोई थाह ही नहीं मिलती ! शायरी की दुम क्या हिलाने लगा, समझता है कि दुनिया बेवक़ूफ़ है, और सारी अक़्लका पिटारा बेटा के पट्टों में छिपा है।...."

चचा 'ग़ुरबत'—"कोई बात नहीं यारो, 'अपना' ही है !"

भाभी :

"तुम्हारे-जैसा ग़ैर-ज़िम्मेदार आदमी तो मैंने आज तक नहीं देखा ! यह दिन-भर ऊल-जलूल लिखते और फाड़ते रहने के आखिर क्या मानी ? शादी हो जाती, तो अभी चार बच्चों के बाप होते; मगर इतनी भी अक़्ल नहीं कि आदमी को अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश करनी चाहिए । 'भइया' का कोट पहन लिया, 'भइया' का पतलून डाट लिया, चवन्नी का सौदा लाये, तो अधन्ना काटकर सिगरेट पी लिया.... लानत है !"

ज़िला सीतापुर, ज़िला कलकत्ता और मुल्क रूस की तीन पाठिकाएँ :

नम्बर एक—

"आदरणीय श्रीमान् 'डैश' जी,

सादर प्रणाम। आपकी कविताएँ अकसर पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलती हैं। अच्छा लिख रहे हैं। मेरी शुभ कामनाएँ।

भवदीया

फूलवती 'फूल' "

[पत्र की दूसरी बग़ल—

"कविताएँ तुम्हें पसन्द आयीं, धन्यवाद। पर यह 'आदरणीय' और 'श्रीमान्' के क्या मानी, प्रिये ?

—'डैश' "]

नम्बर दो—

"महोदय,

आपकी कविता-कला की मैं क़ायल हूँ। बहुत ही प्रशंसनीय ढंग है बातों को कहने का। और क्या लिख रहे हैं ?

आपकी, [पत्र अँगरेज़ी में था]

'प्रेरणा' "

[हाशिये में—

"तुम्हारी चिट्ठी की ख़ुशबू को सूँघता हूँ, मुहब्बत में तड़पता हूँ और अनदेखी पलकों की तसवीर खींच रहा हूँ।"]

नम्बर तीन—

प्रिय बन्धु,

कविता-संग्रह मिला, पढ़ा। निराशा हुई—कुछ समझ न सकी।

आपकी,

विमला हॉव"

[लिफ़ाफ़े पर—

" 'मूक जो हो, तो

व्यथा का कारण
दूरियाँ अकसर
समझ नहीं पातीं ।

—'डैश'—"]

एक सम्पादक :

"जी नहीं, हमारे यहाँ पारिश्रमिक की व्यवस्था नहीं !"

झब्बू मास्टर, 'अलबत टेलरिंग शॉप' :

सीना—२७ इंच
कमर—२४ ,,
गरदन—९¾ ,,
....
....
तैयार देने की तिथि—१५
[दिया गया २९ को !]

मुहल्ले की भंगिन :

"देखो बाबू, हम नीच क़ौम हुए तो क्या, इज़्ज़त हमें भी पियारी है। अबकी से आँखें मटकायीं, तो ठीक नहीं खायेगा !"

[इस डर से कि रसोई में तरकारी काटती हुई भाभी न सुन लें, हाथ जोड़कर माफ़ी माँग लेना !]

शंकाएँ और समाधान :

"[सच तो यह कि शंका का समाधान हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसे एक समाधान समझे, वह और के लिए कोई समस्या हो—और मेरी शंकाएँ चूँकि व्यक्तिगत नहीं !]"

"प्यार ?"

—"सीढ़ियाँ। यह बात और, कि कहीं कुतुबमीनार-से चक्कर हों, तो कहीं काशी के घाटों-सा पाताल में धँसाव और कहीं 'आई. आई. ए'-सी तड़क-भड़क, कि—

"भर्र-ं-ं-ं...."

"क्या हुआ ?"

"जहाज़ उड़ गया, धूल उड़ रही है !"

"वादे ?"

"—रुइया बादल।"

"एक आम ट्रेजेडी ?"

"—१ : ९, यानी बहुत दूर तक सफलता रही, पर एक ऐसी कगार है, जो नही छुल पाती, नहीं छुल पाती—अस्थायी है बाढ़ का पानी...."

"आस्था क्या है ? क्यों है ?"

"—बचपन"

"क्यों, कि कुछ जानना शेष रहता है।" ["मेक-अप का सेन्स समझना ज़रूरी है।"]

"नवीनता ?"

"—दुनिया इतनी पुरानी है [घिसी हुई !], कि कुछ भी नवीन नहीं।

"किन्तु जो कहते हैं ?"

"उन्हें धोखा दिया जाता है।"

क्लब 'रेडरोज़' में ऐडमीशन की अनुभूति :

"नेम प्लीज़ ?"

"डैश !"

"डैश ?"

"जी हाँ डैश !"

"फ़ुलस्टाप नहीं ?"

"नहीं। आप प्रजेण्ट में चल रही हैं या फ़्यूचर में ?"

धीमी-सी खिलखिलाहट।
दिल है, कि भसम, भसम, भसम....
"काम ?"
"काव्य-रचना।"
"यह कौन-सा डिपार्ट है ?"
"झखने का।"
"बी सीरियस प्लीज़ ! किस डिपार्ट में काम करते हैं ?"
"काव्य-रचना डिपार्ट नहीं।"
"फ़र्म है ?"
"जी नहीं।"
"दूकान है ?"
"जी नहीं।"
"तब क्या है !" सिनेमा-गेटकीपर का ट्रान्सलेशन ?"
"नहीं। वर्स-राइटिंग !"
"ओ....ह ! तो यूँ कहिए....वर्स-राइटिंग ! पोएट हैं !" खूब, बहुत खूब !"
"क्या मतलब ?"
"मतलब, कि शक्ल भी है !"
"शुक्रिया।"
वही धीमी-धीमी-सी खिलखिलाहट।
कान हैं, कि बज रहे हैं—झाँय, झाँय, झाँय....
"ऐडरेस"
"५०, रहनुमा बिल्डिग, लालगंज।"
क्या हसीन उँगलियाँ हैं, क्या हसीन अक्षर—५०—रहनुमा—बिल्डिग....
"बिलकुल पास ही है, ये क्या, ये क्या बिलकुल....। किसी रोज़...."
अरे !

लेकिन मुसकराहट कुछ और उभर आती है....।

रात इतनी सुनसान और अँधेरी क्यों है....और ये तारे, ये आँखें....

रेस्टुरेण्ट की दो कुरसियाँ :

दो प्याली चाय, और दो केक-पीस।

और बहुत सारी फुसफुसाहटें....।

सिनेमा हाउस

थर्ड शो।

"....सरो, कभी तुमने सोचा है, कि हमारी जिन्दगी...."

कम्पनी बाग़ :

दूधिया चाँदनी। बेले और रातरानी की भीनी-भीनी खुशबू, और अशोक की पत्तियों की ख़ामोशी, और दूब पर जमी हुई शबनम की बूँदें, और ठण्ड....

क़म्बख़्त हमदर्द :

"भई, सोचना चाहिए, हमने भी काट-पीट कर दिया था....कुछ नहीं, तो कम से कम ५) ही लौटा दो...."

"? :

कठिन हो

तोड़ती हो; पर न जाने क्यों—शिला

प्रिय तुम।"

प्लाईमाउथ की पिछली सीट :

"सरो !"

"हूँ।"

"क्या यह ठीक है ?"

"क्या ?"

"जो मैंने सुना है।"

"क्या ?"

"कि वह डैश...."

"बस-बस भटनागर बाबू...ह-ह-ह, खूब....! वह डैश हि-हि-हि.... फ़ुलस्टाप, कामा, सिल्ली....! ह-ह-ह....

और होटल 'डि-बर्लिन' का कमरा नम्बर २७०—

"ह-ह-ह....भटनागर बाबू....ह-ह-ह...."

और काग़ज़ी सरसराहट—

"खूब ! भटनागर बाबू....हि-हि-हि...."

और शीशे की टुनक—

"हि-हि-हि....ह-ह-ह...."

"हो-हो-हो...."

(चटाख़ !)

एक चिट—

"Explain Mr. Poet.

What is O ?

Z-E-R-O ?

Z-E-R-O ?"

यों ही (ज़ख्म की गहराई ?)

पिनकी हकीमजी—"म्याँ, कुछ उँखड़े-उँखड़े दिख रिये हो, सब खैर-सल्ला तो है न ?"

"बस दुआ है; ज़रा मौसम की तब्दीली की वजह से...."

□ □

सम्पादक के नाम एक पत्र

[है भी और नहीं भी]

□

महाशय

विश्वास कीजिए, यह मेरा प्रथम पत्र है जो मैं किसी अखबार के सम्पादक के नाम लिख रहा हूँ। यह नहीं कि पत्र लिखता ही नहीं या कि मुझे पत्र लिखना अच्छा नहीं लगता। पत्र-व्यवहार में दफ़्तरी दृष्टिकोण रखने पर भी मैं उपर्युक्त वर्ग के पत्र नहीं लिख सका और आज जो इस प्रकार पत्र मैं लिखने जा रहा हूँ, क्रिया की दृष्टि से जिसे मैंने प्रारम्भ कर दिया है, उसका एक विशिष्ट कारण है।

अब तक सामान्य पत्र साहित्य को (अँगरेज़ी में कीट्स अथवा लॉरेन्स के पत्र, हिन्दी में महावीर प्रसाद द्विवेदी अथवा पद्मसिंह शर्मा के पत्र) व्यापक साहित्य का अभिन्न अंग माना जाता था। पर अब मैं देख रहा हूँ कि इस प्रकार के पत्र साहित्य से प्रायः सर्वथा भिन्न सम्पादक के नाम लिखे गये पत्रों का साहित्य है। यहाँ शिवशम्भु अथवा विजयानन्द दुबे के छद्म नाम से लिखे गये पत्रों अथवा चिट्ठों को हमें अलग कर देना होगा। सम्पादक के नाम पत्र उस शृंखला की अन्तिम कड़ी है, 'जो नहीं छपेंगे' शीर्षक के अन्तर्गत नामोल्लेख से प्रारम्भ होती है।

आज के युग का सबसे बड़ा जादूगर कदाचित्, उसका कम्पोजीटर है और इसीलिए मानव-जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य आज अपने नाम को 'अधिक से अधिक बार तथा बड़े से बड़े टाइप में' (तुल. 'द ग्रेटेस्ट गुड ऑव द ग्रेटेस्ट नम्बर') मुद्रित हो गया है। सम्पादक के नाम पत्र इस

दिशा में प्रारम्भ अन्त (End of the beginning) है, जिसे आज के प्रजातन्त्र युग ने अत्यन्त व्यापक बना दिया है।

सम्पादक के नाम पत्र सचमुच प्रजातन्त्र के जेठ बेटों में से एक है। 'मुहल्ले का नाला साफ़ नहीं किया जाता' से लेकर 'एटम बम मुझसे पूछ कर क्यों नहीं बनाया जाता' तक इस विशिष्ट कॉलम का क्षेत्र-विस्तार है। कभी-कभी इस कॉलम के माध्यम से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वाद-विवाद भी सम्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा पाठकों को विषय की जानकारी चाहे न भी हो पर नामों की जानकारी पूरी हो जाती है।

ब्रिटिश प्रजातन्त्र के विकास में वहाँ के सम्पादक के नाम पत्र साहित्य का महत्त्वपूर्ण योग है। एक अमेरिकन पत्रकार के शब्दों में "जैसे ब्रिटिश न्याय का मूल तत्त्व सामान्य क़ानून है और ब्रिटिश रन्धन-प्रणाली की आधारशिला उबाली हुई सब्ज़ी है, उसी प्रकार पत्रकारिता के क्षेत्र में ब्रिटिश का विचित्र तथा महा योगदान सम्पादक के नाम पत्र है।" यह बात मेरी मौलिक मान्यता के एकदम अनुकूल पड़ती है, कई दृष्टियों से यह सम्पादक के नाम पत्र शैली विशुद्ध रूप में शौक़िया है, प्रस्तुत बहुत की जाती है, उपकारार्थ है और निर्मूल है। यह पारिवारिक वातावरण की एक निहायत आरामदेह अभिव्यक्ति-प्रणाली है, जिसमें उस अनौपचारिक लेखन-शैलीका रूप देखने को मिलता है, जो अँगरेज़ी लेखकों की अपनी निजी विशेषता है। सम्पादक के नाम पत्र लेखन-विधि अँगरेज़ी मनोवृत्ति में विशेष रूप से अनुकूल पड़ती है। पीढ़ियों के अभ्यास के कारण यह साहित्य-रूप बहुत अधिक विकसित हो गया है, और अब विभिन्न रूपों तथा आकारों में प्राप्य है। एक वाक्यीय नोट 'महाशय—इंग्लैण्ड को गुण की आवश्यकता है समानता की नहीं। आपका विश्वास भाजन'....से लेकर गम्भीरतम वाद-विवाद तक जो वर्जिन 'मेरी की कैथोलिक धर्म व्यवस्था में स्थिति' से सम्बन्ध हो सकता है और जो 'द स्पेक्टेटर' में सप्ताहों तक चर्चित रहता है। वस्तुतः अँगरेज़ी सम्पादक के नाम पत्रों के विषय विशेष रूप से आस्वाद्य है। उनके लेखक मेरी स्टोप्स से लॉर्ड एस्टर तक हो सकते हैं

और विषय 'स्वेज क्राइसिस' से लेकर 'सरकस का गोला ४२ फ़ीट के व्यास का क्यों होता है' तक परिव्याप्त रहते हैं।

सामान्यतः अँगरेज़ी के आधुनिक गद्य-साहित्य में 'महाशय,—' पत्रों की कला विशेष रूप से तथा प्रायः स्वतन्त्र कृति पर विकसित हुई। इस प्रसंग में प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् स्व. गिल्बर्ट मरे का यह पत्र उल्लेखनीय है, जो उन्होंने छड़ी के घटते हुए प्रयोग तथा फ़ैशन के सम्बन्ध में लिखा था—

"महाशय—क्या आपके पत्र-व्यवहारी एक चीनी सन्त पुरुष के अँगरेज़ों के सम्बन्ध में प्रकट किये उस मन्तव्य को भूल गये हैं, कि उनमें से भद्र से भद्र पुरुष भी घूमने के समय छड़ी लेकर चलते हैं ? उनका उद्देश्य क्या हो सकता है सिवा इसके कि वे निर्दोष व्यक्तियों को पीटें ?"

आपका, इत्यादि इत्यादि

याट्सकोम्ब, बोअर्स हिल ऑक्सफ़ोर्ड गिल्बर्ट मरे

हमारे यहाँ सम्पादक के नाम पत्र की लेखन-कला अभी तक मुख्यतः सोद्देश्य है। ऐसे पत्रों में निजी स्वार्थ की भावना की अवश्य ही उतनी प्रमुखता नहीं रहती कितनी कि जनता की सेवा-भावना प्रधान रहती है। सुना है कि ग़ाज़ीपुर तथा कानपुर के दो सम्भ्रान्त नागरिक अपने सम्पादक के नाम पत्रों का संकलन पुस्तकाकार प्रकाशित करा रहे हैं। पाठकों की सुविधा की दृष्टि से उसमें वर्गीकृत विषय-सूची तथा नामानुक्रमणिका यथास्थान रहेगी। एक प्रस्तावित संकलन की विषय-सूची देखी गयी है— 'अण्डोंके मूल्य' से प्रारम्भ होती है तथा 'सम्यक् ज्ञान की सम्भावना ?' पर समाप्त होती है।

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में कुछ नये लेखकों का 'कैरियर' बनाने में महाशय, पत्रों ने विशेष योगदान दिया है। इतिहासकार ऐसे लेखकों को विशेष सम्मानपूर्वक देखेंगे जो किसी पत्र-विशेष में पहले सम्पादक के नाम पत्र लिख-लिखकर अन्ततः उस पत्र अथवा पत्रिका के लेखक होकर ही रहे। पर जैसा मैंने कहा, यह तो महाशय,—पत्रों की सोद्देश्य प्रणाली है। आशा करता हूँ कि विकास की अगली अवस्था में सम्पादक के नाम

पत्र के लिए पत्र-शैली का अनुसरण होगा और तब इस साहित्य रूप तथा विशेष कला का समुचित विकास हो सकेगा। हमारी हिन्दी में पेशेवर सम्पादक के नाम पत्र लिखनेवालों की बड़ी कमी है। बिना उसके साहित्य की समृद्धि घपले में है। इस कला की उन्नति के लिए सम्पादकों को सपारिश्रमिक पत्र छापने चाहिए ! आशा है आप सहमत होंगे।

आपका, इत्यादि इत्यादि

चस्वराचार्य

[आज के बहुत-से हिन्दी लेखक और सम्पादक अँगरेज़ी ज्ञान को दर्शाना बड़ा बुरा समझते हैं। इस पत्र में जितना अँगरेज़ी का हवाला है, उसे यदि वे न पढ़ें तो भी मेरी बात उनकी समझ में आ जायेगी ! शुभमस्तु !]

□ □

केशवचन्द्र वर्मा

मीरा : प्रगतिशील कवयित्री

□

अगर हिन्दी भाषा का एक ढाँचा बनाया जाये (जैसा प्रायः हाईजीनकी किताबों में ढाँचा दिखाई देता है) तो दिल की जगह मीराबाई को रखना पड़ेगा ताकि ढाँचा धड़क भी सके। मीरा ने हिन्दी भाषा का साहित्य लायक़ बनाने के लिए उतना ही काम किया है जितना एक माँ अपने नालायक़ बेटे के लिए करती है। आज जब हिन्दी भाषा के साहित्यकारों का पुनर्मूल्यांकन हो रहा है तब इस बात की जरूरत महसूस की जाती है कि जिस प्रकार अन्य कवियों को उनकी गद्दी दी जा रही है, मीराबाई को भी उचित बैठकी दी जाये। मीराबाई का साहित्य बहुतों ने देखा-भाला है लेकिन फिर भी आज की सामाजिक सापेक्ष्यता और प्रगतिशील तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए किसी ने भी उसपर क़लम न उठायी, सो मैं करता हूँ।

पूर्वाभास

मीरा के बचपन से ही उसके जीवन में एक असन्तोष की भावना जाग्रत् हो गयी थी। मीरा एक सामन्तवादी वातावरण में पलकर भी जनजीवन के प्रति आकर्षित हो गयी थी और उसे सबके साथ उठने-बैठने, खेलने-कूदने में मजा आता था। मीरा ने तय कर लिया था कि वह विवाह नहीं करेगी। यहीं हमें उसके भीतर का नारी-विद्रोह जो कि रूढ़िग्रस्त परम्पराओं का विरोधी था, स्पष्ट देखने को मिलता है। वह अपनी जन-वादी विचारधारा को किसी भी जड़ता से बाँधना नहीं चाहती थी। महलों की फ्यूडल सभ्यता उसके लिए खास अहमियत नहीं रखती थी। उसके विचार निश्चय ही भौतिकवादी रहे होंगे।

'सन्तन' पार्टी का विकास और मीरा पर प्रभाव

उन दिनों विश्व में सन्तन आन्दोलन चल पड़ा था और भारत में भी इस पार्टी का विकासक्रम स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ऐतिहासिक तथ्यों से पता लगता है कि कोई 'सेण्ट-एन' साहब थे, जिनके नाम पर इस 'सन्तन' पार्टी का अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन चल पड़ा था। जनवादी सन्तन पार्टी सदैव साम्राज्यवादी तथा सामन्तवादी शक्तियों से दुर्धर संघर्ष करती रही। भारत के अनेक विचारक और कवि जिनमें सूरदास, तुलसीदास और कवीरदास भी थे, इसी सन्तन पार्टी की विचारधारा से प्रभावित थे और अपनी कृतियों में प्रायः इस पार्टी का उल्लेख किया करते थे। राजस्थान में सामन्तवादी रजवाड़ों का ज़ोर था अतः सन्तन पार्टी ने अपना एक ज़ोरदार नेता खड़ा करने की बात सोची। पार्टी का संगठन इतने आश्चर्य-जनक रूप से सफल था कि उसने उदयपुर के राणा की महारानी मीराबाई को ही अपनी जननायिका बनाया और उसी के नेतृत्व में सामन्तवादी संस्कृति का विनाश प्रारम्भ हुआ। पतनोन्मुख सामन्तवादी संस्कृति के गिरने में मीरा को पूरा विश्वास था अतः मीरा ने सन्तन पार्टी का सदस्य होना स्वीकार किया और इस तरह जनसंघर्ष में पहला मोहरा पीट लिया गया। बताते हैं कि हिमालय के उस पार से कोई प्रसिद्ध योगी साधक जो इस सन्तन पार्टी के हर पहलू से वाक़िफ़ था, भारत आया था, और उसने मीरा को पार्टी कॉमरेड बनाने में बड़ी भारी सहायता की थी। मीरा उसे अपना गुरु मानती थी और वह जब पार्टी का संगठन कर वापस जाने लगा तो मीरा ने उसकी विदाई में सहभोज के अवसर पर जो कविता पढ़ी थी उसका पाठ हमें यों मिलता है—

"मत जा, मत जा, मत जा जोगी
पाँव पड़ूँ मैं तोरे जोगी ॥ मत जा ॥
अगर चन्दन की चिता बनाऊँ
अपने ही हाथ जला जा
अपनी ही गैल बता जा ॥ जोगी ॥"

सन्तन पार्टी होते-करते बहुत मज़बूत हो गयी। ऐतिहासिक व्याख्या बताती है कि आगे भी सतनामी विद्रोह और बंकिम बाबू के आनन्दमठ में जिन विद्रोहियों का उल्लेख मिलता है, हो सकता है कि वह सन्तन पार्टी की परम्परा में रहे हों।

मीरा का साम्राज्यवाद और सामन्तवाद से संघर्ष

मीरा को स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था कि अगर उसने सन्तन पार्टी के साथ सहयोग नहीं किया तो भारत में शीघ्र ही मुग़ल बादशाह अपनी साम्राज्यवादी चालों से इन छोटे-छोटे रजवाड़ों को अपने वश में कर लेगा और इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के नाश का अध्याय प्रारम्भ हो जायेगा। मीरा ने अपने कार्यक्षेत्र को अध्यात्मवादी रंग दिया लेकिन वस्तुतः उसका 'एप्रोच' बहुत ही पदार्थवादी रहा। रूढ़िवादी परम्परा तथा नारी के सीमित क्षेत्र को छोड़कर वह जनता के बीच आ खड़ी हुई, उसने पीड़ित जनता के दुख को पहचाना।

"भाई छोड़्या, बन्धु छोड़्या छोड़्या जगसोई।
मीरा अब लगन लागि होनी हो सो होई॥"

यहाँ यह तथ्य कितना उभरकर सामने आता है कि मीरा ने सबका विरोध करके वह आन्दोलन उठाया था और उसके पीछे वह इतनी दीवानी हो गयी थी कि आगे-पीछे क्या होगा, इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं रह गयी थी। मीरा के सामने शासक और शासित का वर्ग-भेद बिलकुल साफ़ था। वह यह जानती थी कि बिना वर्ग-संघर्ष की भावना पैदा किये हुए सन्तन पार्टी का भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता। पीड़ितों और शोषितों की बात समझने के लिए स्वयं घायल बनना पड़ता था। यथा—

"घायल की गति घायल जाने कि जिन घायल होय।"

मीरा के कॉमरेड

जैसा कि पहले ही मैं कह चुका हूँ सन्तन पार्टी उस समय सारे अन्त-

र्राष्ट्रीय क्षेत्र और विशेषकर भारत में बहुत ही संगठित पार्टी थी । अनेक कवि, विचारक और कलाकार पार्टी कम्यून से सम्बन्धित थे । इतिहास के पन्नों में मीरा के कॉमरेडों का ज़िक्र कहीं नहीं मिलता क्योंकि साम्राज्यवादो इतिहास लेखकों ने प्रोलेटेरियट वर्ग के इन जननायकों का नाम मिटा देना ही उचित समझा । तो भी मीरा की रचनाओं में ही हमें इतने स्पष्ट ढंग से इन कॉमरेडों का उल्लेख मिल जाता है कि इसी अन्त:साक्ष्य के बल पर हम अपनी बात खड़ी कर सकते हैं—

"जोगी आये जोग करन को तप करने संन्यासी ।
हरीभजन को साधू आये वृन्दावन के वासी ।।"

सन्तन पार्टी के इस देशव्यापी आन्दोलन के फलस्वरूप सभी स्थान के लोग इसमें सक्रिय सहयोग दे रहे थे । पता चला है कि जोगकरन नामक एक पंजाबी जाट था जो इस सन्तन पार्टी का एक प्रमुख कार्यकर्ता था । हिमालय पार से जो जोगी आये थे उनके साथ ही यह व्यक्ति आता जाता रहता था । तपकर्णे नामक एक महाराष्ट्र व्यक्ति भी सन्तन पार्टी का नायक था । तपकर्णे एक विशिष्ट जाति हुआ करती थी ।[1] तपकर्णे का पार्टी पर बहुत गहरा प्रभाव था । कुछ विचारकों ने, जिनमें सूरदास भी एक थे, तपकर्णे की हरकतों को नापसन्द किया था और बताते हैं कि ऊधो के रूप में उन्होंने गोपिकाओं से तपकर्णे का ही मज़ाक़ बनवाया था । तुलसीदास भी तपकर्णे को बहुत पसन्द नहीं करते थे फिर भी इन्होंने इसका उपहास नहीं किया । तीसरा और सबसे प्रमुख व्यक्ति था हरिभजन, जो अपने नाम से ही पता देता है कि वह उत्तर प्रदेश के गोरखपुर ज़िले का रहनेवाला था । हो सकता है कि सन्तन पार्टी का सचेतक वही रहा हो क्योंकि प्राय: हर विद्वान् विचारक लेखक और कवि ने हरिभजन की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा है । उन दिनों वृन्दावन सन्तन पार्टी का एक महान् हेडक्वार्टर था और हरिभजन स्वयं अधिकतर वृन्दावन में ही बसा

१. दे.—भारत की विभिन्न जातियाँ—(मुलगाँवकर)

करते थे। समकालीन साहित्य पर विचार करने से पता लगा है कि हरि-भजन को इसी पार्टी के काम के लिए पकड़े जाने पर फाँसी हो गयी थी।

"अँखियाँ हरि दर्शन की प्यासी।
नेह लगाय, त्याग गे तृण सम,
डारि गये गल फाँसी॥"

इस प्रकार साम्राज्यवादी शक्तियों ने मीरा के कॉमरेडों को मीरा से अलग कर दिया।

लोक-लॉज की स्थापना

मीरा ने इस महान् आन्दोलन को सफल ढंग से चलाने के लिए जो योजना बनायी उसमें पहली बात यह थी कि एक लोक-लॉज की स्थापना की। बताया जा चुका है कि सन्तन पार्टी का आन्दोलन एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन था। अतः लॉज शब्द जिसे विदेशों में होटल या निवास-स्थान कहते हैं भारत में प्रचलित हो गया। लॉज (Lodge) की स्थापना के लिए मीरा को राणा को बहुत ऊँच-नीच समझाना-बुझाना पड़ा लेकिन अन्ततोगत्वा वह सफल रही। आज हमें अनेक होटलों और स्थानों के नाम 'जनता होटल', 'जनता रेस्तराँ', 'जनता क्लब' आदि मिलते हैं लेकिन इसकी परम्परा मीरा ने ही शुरू की थी जब उसने अपने लॉज का नाम लोक-लॉज रखा। लोक-लॉज वास्तव में सन्तन पार्टी का पार्टी-ऑफ़िस था। वहीं सब लोग इकट्ठा होते थे और महत्त्वपूर्ण निर्णय किये जाते थे। राणा की दमननीति जब चली तो सबसे पहले उसने लोक-लॉज में सरकारी ताला डलवा दिया और पार्टी-ऑफ़िस छीन लिया गया। मीरा ने बड़ी वीरता के साथ इसका उल्लेख किया है।

"सन्तन संग बैठ-बैठ लोक-लॉज खोई!"

राणा की फ़ासिस्ट प्रवृत्तियाँ

शोषित जनता की उभरती हुई आवाज़ को दबा डालने के लिए ऐसा

कुछ भी नहीं बचा, जो राणा ने न किया हो। मन्दिर उड़वाने के लिए तोप चलाने से लेकर मीरा पर 'स्लो प्वाइज़निंग' (क्रमशः विष देने की क्रिया) तक के टेकनीक का प्रयोग राणा ने किया। नाजियों की तरह राणा की निगाहों में सन्तन पार्टी का हर सदस्य एक यहूदी हो उठा। उन्हें हर तरह से दबाने के कुचक्र रचे गये। मीरा को मारने के लिए सर्प भेजा गया, विष दिया गया। लेकिन पार्टी ने अपना भीतरी जाल महल के भीतर ऐसा फैला लिया था कि मीरा के पास पहुँचते-पहुँचते वह चीज़ शालिग्राम की वटिया या शर्वत वन जाती थी। इस प्रकार दैवी सहायता की आड़ लेकर मीरा को बचाया गया और इसका प्रभाव यह भी हुआ कि राणा मीरा की पार्टी से डरने लगा।

मीरा और गिरधर गोपाल

मीरा का पार्टी-कार्य विना गिरधर गोपाल की हरकतों पर प्रकाश डाले हमेशा अधूरा ही रहेगा। मीरा की प्रत्येक रचना में इस व्यक्ति का नाम इतने ढंग से आया है कि हर आलोचक ने अपने ढंग से उसका मतलब समझने की कोशिश की है। जहाँ तक अन्तःसाक्ष्य और बहिः-साक्ष्य का मेल खाता है तहाँ स्पष्ट पता चलता है कि गिरधर गोपाल नाम का व्यक्ति अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व रखता था और उसका भी देशव्यापी दौरा हुआ करता था। सन्तन पार्टी के अनेक लोगों ने गिरधर गोपाल को जन-नायक माना है। गिरधर गोपाल हर जगह मौजूद रहता था और एक स्थान का समाचार दूसरी जगह पहुँचाया भी करता था। सम्भव है कि वह एक संवाददाता भी रहा हो। मीरा इस व्यक्ति की प्रतिभा से बहुत अधिक प्रभावित थी और एक तरह से यदि समझा जाये तो उसके प्रति उसकी बड़ी ममता-सी हो गयी थी। बताया जाता है कि आगे चलकर सहसा यह व्यक्ति पार्टी से विलकुल अलग-सा हो गया और बहुत ग़ैर-ज़िम्मेदार तरीक़े से काम करने लगा। पार्टी से हटकर उसकी तबीयत कलाकारिता की ओर चली गयी और वह नाटक-नौटंकी में भाग लेने लगा।

उसने अपनी पार्टी की वेश-भूषा भी बदल दी और वह मोर-मुकुट, पीताम्बर और वैजन्ती की माला वग़ैरह पहनने लगा। उसके भीतर पतनोन्मुख सामन्तवादी जड़ता के अंश एकाएक आ बसे और वह पार्टी के दृष्टिकोण से बिलकुल निकम्मा साबित हो गया। मीरा की ममता फिर भी उस पर बराबर बनी रही और यही कारण था कि बहुत-से सन्तन पार्टी के सदस्य मीरा से प्रसन्न नहीं रहते। राणा गिरधर गोपाल को पार्टी का प्रमुख कार्यकर्ता मानता ही था इसलिए एक बार उसने गिरधर गोपाल का मोर-मुकुट छिनवा लिया और महल में जाकर सो गया—

"जाके सिर मोर मुकुट—मेरो पति सोई।"

अर्थात्—

जिसके सिर से मुकुट (लेकर) मेरा पति सो गया (है) मीरा फिर भी बराबर यही कहती रही—

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
तात मात भ्रात बन्धु अपना न कोई॥"

गिरधर गोपाल के प्रति मीरा का यह दृष्टिकोण कभी भी सफल न हो सका और मीरा के लाख प्रयत्न करने पर भी ज़िम्मेदार तरीक़े से गिरधर-गोपाल पार्टी का काम दोबारा न चला सका। गिरधर गोपाल वृन्दावन जाकर रहने लगा और मीरा को भी अपने अन्तिम दिनों में उसी के हित वृन्दावन जाना पड़ा। यूँ मीरा में व्यक्तिपरक तत्त्व इतना नहीं था लेकिन सभी नियमों में अपवाद सदा होते हैं।

मन्दिर मूवमेण्ट और सशस्त्र क्रान्ति

मीरा को ऐसा लगा कि उसका आन्दोलन अब अधिक दिन इन साम्राज्यवादी फ़ौलादी हाथों से बचकर नहीं निकल पायेगा। मीरा के कई कॉमरेड अलग हो गये थे। तपकर्णें ने तो एक अलग पार्टी बनाने की भी कोशिश की थी। गिरधर गोपाल का मन नौटंकी में लग गया था।

'लोक-लॉज' पर सरकारी ताला पड़ चुका था। ऐसी हालत में मीरा के सामने बिलकुल अन्धकार था। लेकिन उसने अपनी हिम्मत नहीं हारी। उसने भारत में मन्दिर मूवमेण्ट प्रारम्भ किया। मन्दिर के बहुत से अर्थ आलोचकों ने किये हैं लेकिन वस्तुतः वह मन्दिर एक भवन का, एक संस्था का प्रतीक था। भारत की जनता को यह मन्दिर मूवमेण्ट बहुत सरलता से ग्राह्य हुआ। मीरा की सूझ बड़ी पैनी थी और उसने सोच लिया था कि इस मूवमेण्ट से वह आसानी के साथ सभी कार्यकर्ताओं और विचारकों का सहयोग प्राप्त कर सकेगी। सो वही हुआ। भारत के हर भाग में इस मूवमेण्ट को प्रोत्साहन मिला। सन्तन पार्टी के सदस्य एक बार पुनः सक्रिय हो उठे। साम्राज्यवादियों की ओर से ऐसी चाल चली जा रही थी कि उस समय धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया जा रहा था। लेनिन की जीवनी-लेखिका प्रसिद्ध जर्मन क्लेरा जेटकिन ने लिखा है कि लेनिन का भी मत था कि पार्टी का काम विचारकों और लेखकों के बीच में छिपकर करना चाहिए। (जिसके अनुसार शान्ति-सम्मेलन का कार्यक्रम चल रहा है।) मीरा ने भी वही 'टैक्टिक्स' अख्तियार किया। इस मन्दिर मूवमेण्ट के द्वारा मीरा ने सशस्त्र क्रान्ति करके प्रोलेटेरियट राज्य क़ायम करना चाहा। सन्तन पार्टी ने अण्डरग्राउण्ड काम करना शुरू कर दिया। इसके लिए सन्तन पार्टी ने बहुत ही आधुनिक टेकनीक इस्तेमाल की। पार्टी ने रणछोड़जी की उपासना शुरू की और विष्णु के अनेक आयुधों की अर्चना मन्दिर में एकत्र होकर करना प्रारम्भ कर दिया। घण्टे ऐसे बनवाये गये जैसे स्कूलों में बजाने के लिए रखे जाते हैं और उन्हें पीटने के लिए लोहे की डेढ़ मन की गदाएँ बनवायी गयी थीं। (मेरा विश्वास है कि आगे के इतिहासकार इस तथ्य को प्रमाणित कर देंगे।) लम्बी-लम्बी पाँच फ़ीट की बाँसुरियाँ बनवायी गयीं जो बाँसुरी का काम कम, लाठी का काम अधिक देती थीं। झाँझ और करताल भी लोहे और पीतल के बनवाये गये जो वज़न में इतने भारी थे कि अगर किसी के सिर पर पड़ जाते तो चकनाचूर कर देते। मीरा ने इस मूवमेण्ट का

संगठन इतना अच्छा किया था कि लोग प्रायः सन्ध्या समय इकट्ठा हो जाया करते थे और मीरा आसानी से फ़ासिस्ट-विरोधी नीतियों का प्रतिपादन किया करती थी। यूँ ये लोग आधी रात को अपने पार्टी लीडर से मिलकर सलाह-मशविरा भी किया करते थे—

"आधी रात प्रभु दर्शन दीन्हों प्रेम नदी के तीरा।"

इसके पहले कि इस आन्दोलन की एक विशाल प्रतिक्रिया हो सकती राणा के फ़ासिस्ट गुर्गों ने इसका पता लगा लिया क्योंकि सन्तन पार्टी के कुछ लोग फूट गये थे और नतीजा यह हुआ कि सन्तन पार्टी के सभी आयुध जो पूजा के काम में रखे गये थे ज़ब्त कर लिये गये। खुफ़िया पुलिस हाथ धोकर पीछे पड़ गयी। सन्तन पार्टी का यह आन्दोलन भी विफल हुआ।

मीरा : क्रान्ति की मूर्ति और जननायिका

मीरा के प्रयत्नों का आकलन करनेवालों ने यही समझा कि मीरा के आन्दोलन विफल रहे लेकिन बात ऐसी नहीं है। भले ही दुर्धर पाशविक फ़ासिस्ट शक्तियों ने साम्राज्यवादियों से हाथ मिलाकर जनता की उठती हुई वाणी को उस समय दबा दिया हो लेकिन वह आवाज़ मर नहीं सकी। मीरा की वाणी जनवाणी बनी। मीरा क्रान्ति की देवी बनी। मीरा पर लांछन लगाया जाता रहा है कि वह प्रतिक्रियावादी आध्यात्मिक शक्तियों को प्रोत्साहित करती रही लेकिन वह ठोस भौतिक उपादानों को लेकर जनता को आकर्षित करती रही। वह रूढ़िवादी चिन्तन को तोड़कर पदार्थवादी सर्वहारा वर्ग की भावनाओं को सामने लायी। मीरा ने बुर्जुआ मनोवृत्ति को नहीं पनपने दिया अपितु उसने नारी-विद्रोह, सामाजिक क्रान्ति और प्रजातान्त्रिक ढाँचे को खड़ा करने की पूरी कोशिश की। फ़ासिस्ट एवं सामन्तवादी शक्तियों को, जो अपने वैभव से जनता को खरीदना चाहते थे, मुँह की खानी पड़ी। उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का मूल रूप

अपनी कार्यनीति के रूप में स्वीकार किया था। सामाजिक परिस्थितियों का जैसा डटकर मुक़ाबला मीरा ने किया था, वह इतिहास, किसी भी प्रगतिशील लेखक के लिए लेनिन के भाषणों से बड़ी धरोहर बन सकता है।

□ □
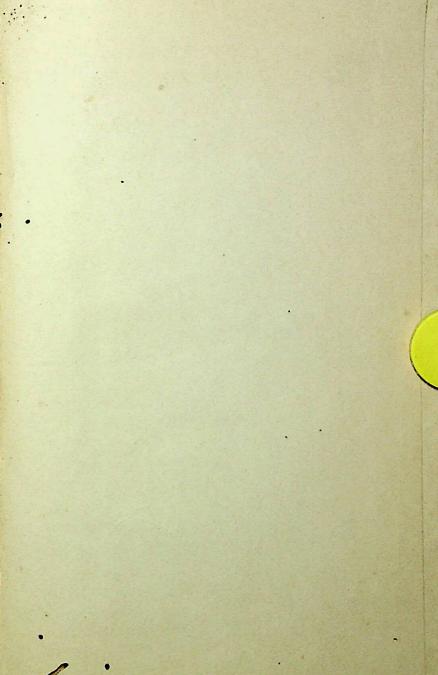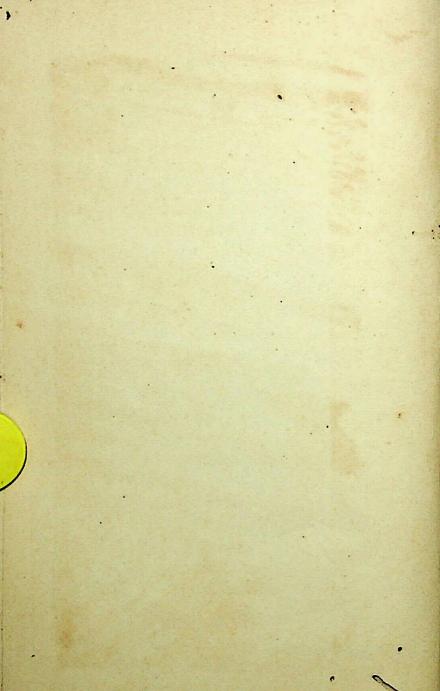
भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक-साहित्य का निर्माण

•

संस्थापक

श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा

श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी—२,२१,००५